आधुनिक हिन्दी कहानियाँ

सम्पादक

विनयमोहन शर्मा
एम० ए० एल-एल० बी०

प्रकाशक

अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज़

अम्बाला, देहली, आगरा, नागपुर, जयपुर

Price Rs. 3-50

Printed by
H. K. Kapur at the Agra University Press, Agra and Published by Shree Ram Jawaya Kapur, Proprietor Uttar Chand Kapur & Sons, Delhi, Ambala, Agra, Jaipur and Nagpur.

J. 2321

प्रारम्भिका

कथा मानव जीवन का उत्स है और कुतूहल भी। बेकन ने कहा है—"वस्तु-सत्य और सत्य ज्ञान एक ही हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि एक किरण है और दूसरा उसका प्रतिबिम्ब।" हम यही अन्तर जीवन और कथा में मानते हैं। जीवन स्वयं सत्य है और कथा उसका प्रतिबिम्बक। जिस प्रकार जीवन अनेक व्यापारों तथा अंगों का बना हुआ है उसी प्रकार कथा भी कुछ अथवा कई व्यापारों तथा अंगों का प्रतिबिम्ब हो सकती है। इस प्रकार कथा के दो रूप होते हैं। एक वह जिसमें जीवन के विशिष्ट अंग अथवा कतिपय व्यापारों की प्रतिच्छाया हो और दूसरा वह जिसमें समस्त जीवन—व्यापारों की परछाईं चित्रित हो। जिसमें जीवन का खंड गृहीत होता है वह कहानी और जिसमें अखंड जीवन अङ्कित होता है वह उपन्यास के नाम से अभिहित होता है।

कहानी के तत्त्व

उपन्यास के समान कहानी के भी निम्न तत्त्व होते हैं :—

(१) कथावस्तु (२) पात्र (३) कथोपकथन (४) शैली (५) उद्देश्य ।

कथावस्तु:—कहानी जीवन का खंड होने के कारण उसकी कथावस्तु छोटी होती है, इसीलिये उसके गुंफन में अधिक सतर्कता की आवश्यकता है। कथा ऐसी हो जो नई तो जान पड़े पर अनहोनी न हो; रोचक तो हो पर मनोभावों को स्पष्ट करने वाली हो। वह इतनी संगठित हो कि उसमें एक भी शब्द भरती का प्रतीत न हो। उसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य उद्देश्य की ओर ले जाने वाला हो। प्रसिद्ध आंगल समीक्षक रिचार्ड्स ने कहानी में वस्तु तत्त्व को बड़ा महत्त्व दिया है। उसने कहानी को सृजनात्मक साहित्य (creative literature) का बीज ही माना है। नाटक और महाकाव्य की सृष्टि कहानी के बिना असंभव है। गीतिकाव्य में भी कहानी का प्रवेश संभव है। यदि कहानीकार में कौशल है तो वस्तु को आकर्षक रूप देकर वह पाठक में सौन्दर्य-सुख संचरित कर सकता है।

पात्र:—कहानी में पात्रों का चरित्र चित्रण बड़ी चतुराई से किया जाता है। उसमें विस्तार की गुन्जायश न होने

से यत्र-तत्र संवादों में ही पात्रों के चरित्रों का रहस्योद्घाटन हो जाता है। कहानी में जितने ही कम पात्र होते हैं, चरित्र-चित्रण उतना ही अधिक सफल होता है। पात्र ऐसे हों जो हमें अपरिचित न जान पड़ें—वे इसी धरती के प्राणी—हमारे चारों ओर चलने-फिरने वाले हों। दूसरे शब्दों में वे जीवन के बहुत सन्निकट हों। पात्रों के चित्रण के दो प्रकार प्रचलित हैं—एक में लेखक अपने को तटस्थ रखकर पात्र के व्यापारों तथा संभाषणों से उनके चरित्र का उद्घाटन करता है, दूसरे में वह स्वयं उसके मन का विश्लेषण करता है। प्रथम प्रणाली में कथाकार पात्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की विवेचना नहीं करता। इसे नाटकीय प्रणाली कहा जाता है और दूसरी प्रणाली को जहाँ कथाकार पात्र की भावनाओं—कार्य-कलाप आदि की समीक्षा करता है और अन्त में स्वयं उसके चरित्र का निर्णायक बन जाता है, 'विश्लेषणात्मक प्रणाली' से संबोधित किया जाता है। कहानी में एक या दोनों प्रणालियों का प्रयोग हो सकता है। पर उसमें विस्तार-विश्लेषण के लिए क्षेत्र नहीं है। क्योंकि वह पूर्ण जीवन का नहीं, जीवनाङ्ग का चित्र है।

कथोपकथन:—कथोपकथन कहानी को रोचक बनाते हैं। वास्तव में इस तत्त्व के द्वारा ही कहानी आगे बढ़ती और अपने उद्देश्य को छूती है। पात्रों के चरित्र भी इसी से प्रकाशित होते हैं। कहानी में लम्बे सम्वादों से औत्सुक्य नष्ट

हो जाता है । कथा घर नहीं कर पाती । अतएव सम्वाद छोटे-चुस्त हों; लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हों ।

शैली:—शैली कहानी कहने के ढंग का नाम है:—

(१) आत्मचरित के रूप में कही जा सकती है, मानों स्वयं कहानीकार अपने जीवन की कथा-विशेष कह रहा हो; कहानी की यह शैली 'मैं' के साथ चलती है ।

(२) इतिहास के रूप में कही जा सकती है, जिसमें कहानीकार तटस्थ होकर घटनाओं का वर्णन करता जाता है । अधिकांश कहानियाँ इसी शैली में लिखी जाती हैं ।

(३) डायरी और (४) पत्रों के रूप में भी कहानी कही जाती है ।

शैली के अन्तर्गत कहानी कहने के ढंग के अतिरिक्त भाषा का भी विचार होता है । भाषा का रूप काव्यमय हो सकता है अथवा सरल—व्यावहारिक—भी । काव्यमय शैली में हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियाँ पाई जाती हैं । कहानियों में जीवन की वास्तविकता का आभास लाने के लिए पात्रों की सामाजिक तिथि के अनुरूप भाषा का प्रयोग होना चाहिए ।

उद्देश्य:—उद्देश्य कहानी का स्पंदन है । वह केवल मनोरंजक हो सकता है, केवल शिक्षाप्रद अथवा दोनों भी । कहानी का लक्ष्य जीवन सम्बन्धी किसी रहस्य का उद्घाटन,

समाज की किसी स्थिति-विशेष की आलोचना अथवा विशिष्ट मानव-प्रकृति पर प्रकाश डालना भी हो सकता है। मानव-जीवन बड़ा जटिल है। अतएव उसकी जटिलता के किसी भी भाग पर चोट की जा सकती है, उसकी किसी भी ग्रन्थि को खोला जा सकता है। उद्देश्य के अनुसार ही कहानी रोमांच-कारी, विनोदक या करुण हो सकती है। यह उपदेश या मनोरंजन-प्रधान भी हो सकती है। अच्छी कहानी में उपदेश उसकी मनोरंजकता को नष्ट नहीं करता—वह 'ओट' में रहकर धीमे स्वर में बोलता है। 'पो' कहता है—"पहले यह सोच लो कि तुम किस प्रभाव को उत्पन्न करना चाहते हो—बस उसी के आधार पर पात्र और घटनाओं को चुन लो—कहानी बन जायगी।"

कहानी भी अन्य कलाओं की भाँति 'सौंदर्यानुभूति' की अभिव्यक्ति है। और कहानीकार की यह अनुभूति जितनी ही गहरी होती है, वह जीवन के रहस्य को—सत्य को—उतने ही संयत रूप में व्यक्त करता है। सौन्दर्यानुभूति को ही बर्नार्डशा 'सरस अनुभव' कहते हैं। 'वस्तु-जगत्' जब कहानी-कार के हृदय में 'भाव-जगत्' बन जाता है—जब वह अपने समाज के जीवन-व्यापारों में तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तभी वह आनन्द से विभोर हो जाता है और इसी विभोरता को हम 'सरस अनुभव' कह सकते हैं। यही कहानी का 'सत्य' है, और सत्य ही 'सुन्दरम्' है। कहानीकार जब अपने मन की बात कहता है, तभी कहानी में प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता पैदा होती है। अनुभूत सत्य को व्यक्त करने में

संयम की ग्रावश्यकता होती है। जो 'सत्य' जन-मन को उन्नत करता है, उसे भुलाता नहीं--जगाता है, वही ग्रभिव्यक्ति का उद्देश्य होना चाहिये। प्रेमचन्द ने उचित ही लिखा है— "संयम में शक्ति है ग्रौर शक्ति ही ग्रानन्द की बुनियाद है।"

इस प्रकार कहानी का उद्देश्य केवल कहानी कहना ही नहीं है, कहानी के द्वारा हमें भी कुछ कहना है। ग्रौर यह 'कुछ' इस ढंग से कहा जाय कि हमारा ग्रन्तर्मन ग्रनजाने उसे ग्रहण कर मुग्ध हो उठे—ग्रानन्द से भीग उठे।

उद्देश्य के ग्रनुसार ही कहानी के दो रूप हमारे सामने ग्रा जाते हैं, यथार्थवादी ग्रौर ग्रादर्शवादी। यदि कहानीकार का लक्ष्य या उद्देश्य जीवन का प्रतिबिम्ब ग्रंकित करना है तो उसकी कहानी 'यथार्थवाद' का रूप धारण करेगी ग्रौर यदि कहानीकार 'जीवन क्या होना चाहिए ?' की दृष्टि से कहानी लिखेगा तो उसमें उसे ऐसे पात्रों की कथा ग्रङ्कित करनी पड़ेगी, जो इस लोक के होने पर भी ग्रमर-लोक के जान पड़ेंगे। ऐसी कहानी ग्रादर्शवादी कहलाती है। वह कुतूहल उत्पन्न कर सकती है, हमें ग्रातङ्कित भी कर सकती है पर उसमें ग्रपनापन नहीं ग्रा सकता है; हम पात्रों को ग्रपने निकट ग्रनुभव नहीं कर सकते। ग्रतएव प्रेमचन्द ने ऐसी कहानी को उत्तम माना है, जिसमें यथार्थ ग्रौर ग्रादर्श

दोनों का समन्वय हो और ऐसी रचना को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कहानी' कहा है। ऐसी कहानी के पैर धरती पर रहते हैं पर आँखें अकाश की ओर उठी रहती हैं। आज का कहानीकार कल्पना के लोक में न विचरकर इसी लोक में राजमार्ग पर, चौराहे पर, गली-कूचे में, खेतों-खलिहानों में चक्कर लगाता है और वहाँ से अनुभव के सत्य को ग्रहण करता है।

यह सच है कि रूसी साहित्य के 'वादों' के अनुकरण पर कतिपय हिन्दी कथाकारों ने भारतीय समाज को रूसी चोला पहनाना प्रारम्भ कर दिया है; विवाहित जीवन की व्यर्थता और स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध की स्वच्छन्दता पर ज़ोर दिया जाने लगा है। संभवतः यथार्थवाद की इसी विडम्बना से खिन्न होकर 'प्रगतिशील लेखक संघ' के मन्त्री श्री सज्जाद जहीर ने लिखा था—"हम प्रगतिशील लेखकों से यथार्थ चित्रण की माँग करते हैं लेकिन यथार्थ चित्रण का कदापि यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक वास्तविकता को ज्यों-का त्यों हूबहू चित्रित कर दिया जाय। प्रगतिशील यथार्थ चित्रण का अर्थ यह है कि अनेक और विभिन्न यथार्थताओं में से उन तत्त्वों का चयन किया जांय जो व्यक्ति और समाज के लिये अपेक्षित रूप से अधिक महत्त्व रखते हैं और फिर इनको इस प्रकार सम्मुख लाना चाहिए कि इनसे वास्ता पड़ने पर मनुष्य स्वाधीनता और नैतिक उत्थान के उस राजमार्ग पर

श्रौर बढ़ते रहने के लिये तैयार हो जाय जो कि वर्तमान युग में उन्हें आत्मोन्नति, बौद्धिक सजगता श्रौर शारीरिक स्वास्थ्य की मंजिल तक ले जा सकता है। स्वर्गीय सरोजिनी नायडू ने भी एक बार हैदराबाद 'प्रगतिशील लेखक संघ' में कहा था--"यथार्थवाद ही सब कुछ नहीं है। हमें उससे ऊपर उठना चाहिये।" संक्षेप में कहानी का उद्देश्य सात्त्विक आनंद प्रदान करना है श्रौर यह आनन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम जीवन के 'सत्य' के साथ 'शिव' तक भी पहुँच सकेंगे।

कहानी के विभिन्न भेद

कथावस्तु के स्रोत के अनुसार कहानी ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक श्रौर जासूसी कहला सकती हैं श्रौर अन्त में जिस 'भाव' को वे उद्दीप्त करती हैं, उसके अनुसार शृङ्गार, करुण, हास्य, भयानक आदि रस की कहानियाँ समझी जाती हैं। कहानी के तत्त्व विशेष की प्रधानता के अनुसार कहानी वस्तु या घटना प्रधान, पात्र या चरित्र प्रधान कहलाती है।

कहानी का विस्तार

कहानी का विस्तार दो पंक्ति से लेकर कई पृष्ठों का हो सकता है पर अब लम्बी कहानियों का युग भी बीत रहा है। संसार की सबसे छोटी कहानी यहाँ दी जाती है:—

"दो यात्री साथ-साथ रेल के डब्बे में बैठे यात्रा कर रहे थे। बातचीत के सिलसिले में एक ने कहा--'मुझे भूतों में विश्वास नहीं है।' दूसरा मुस्कराकर बोल उठा--'सचमुच' और गायब हो गया।"

विशाल भारत में पं० श्रीराम शर्मा भी इसी प्रकार की लघु कथा आजकल लिख रहे हैं। 'कला' विस्तारपूर्वक वर्णन में नहीं, विस्तार के इंगित में है पाठक की कल्पना को उत्तेजना देने में है।

कहानी का विकास

जब से मनुष्य ने अपने जीवन-व्यापारियों के प्रति सजग अनुराग अनुभव किया और उसे व्यक्त करने की अदम्य वासना से अभिभूत हुआ तभी से कहानी का जन्म माना जा सकता है। मानव-जागरण के प्राचीनतम चिह्न वेद-उपनिषद् ग्रन्थों में 'कहानी' विद्यमान है, जो जीवन तत्वों की व्याख्या करती है। पर रस से सिक्त करने वाली कहानी एहिक संस्कृत-साहित्य-युग की उपज है। संस्कृत-साहित्य शास्त्रों में 'कथा' णौर 'आख्यायिका' शब्दों की व्याख्या है। कथा में आधुनिक गल्प या गप्प (Fiction) का भाव है, जिसकी वस्तु सर्वथा कल्पित होती है और आख्यायिका में वस्तु इतिहास का सूत्र पकड़ कर चलती है। संस्कृत साहित्य में 'गुणाढ्य' की बृहत्कथा का, जो 'पैशाची' भाषा में लिखी गई थी, बड़ा मान है। उसकी प्रशंसा बाण आदि ने मुक्त कंठ से की है। मूल ग्रंथ अप्राप्य है पर उसका कुछ अंश संस्कृत में

उलथा होकर 'बृहत्कथा श्लोक संग्रह' बृहत्कथामंजरी' और 'कथा सरित्- सागर' के रूप में रक्षित है। 'गुणाढ्या' की कथा में आलंकारिता कम है, 'कथात्व' अधिक है। उनके पश्चात् सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी ने संस्कृत कथा-साहित्य को सरसता से अनुप्राणित किया। उनमें भाषा की आलंकारिकता, कथा सूत्र की अविच्छिन्नता और रस की परिपक्वता तीनों की मधुर तिरबेनी बहती है। काव्य की भाँति संस्कृत युग की कथा का लक्ष्य भी रस-संचार रहा है। आज का आंग्ल साहित्य शास्त्री रिचार्ड्स भी सभी सृजनात्मक साहित्य का उद्देश्य रस-संचार मानता है।

यद्यपि हमारे प्राचीन साहित्य में कहानी की सुन्दर परम्परा विद्यमान है, तो भी हिन्दी-कहानी का विकास उस परम्परा की कड़ी नहीं है। वह पाश्चात्य कहानी कला से प्रेरित-पोषित है।

पश्चिम में आधुनिक कहानी १९वीं शताब्दी की देन है। वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने जनता के जीवन और परिणामतः साहित्य को प्रभावित कर कहानी को नई गति, नई टेकनीक और नई विचार-धारा प्रदान की है। जीवन संघर्ष की तीव्रता के कारण जनता के पास साहित्य विलास के लिए समय का अभाव रहने से छोटी कहानी का जन्म हुआ। अमेरिका, फ्रान्स और रूस में उसका प्रारम्भ हुआ। अमेरिका के कथाकार 'पो' ने

सर्वप्रथम प्रभाव और लक्ष्य की एकता पर ज़ोर दिया। रूसी कथाकार तुर्गनेव, गोर्की और टाल्स्टाय ने उत्पीड़ित के प्रति सहानुभूति प्रकट कर कहानी को जनता के अधिक सन्निकट लाने का यत्न किया। फ्रान्सीसी लेखकों, विशेषकर जोला और मोपांसा ने उद्देश्य, प्रभाव और नाटकीय-पन के समन्वय के साथ एक घटना, एक पात्र और एक दृश्य से प्रभावित कहानियाँ लिखीं। उनका जीवन के एक पहलू (phase) का चित्रण बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। पाश्चात्त्य कहानी-साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य पर सीधा पड़ा है। बँगला में उसकी छाया से बंगाली कहानी का रचनातंत्र अधिक आकर्षक हो गया था। अतः हिन्दी कथा-साहित्य सब से पहले उसी से उच्छ्वसित होने लगा। यों तो ऐतिहासिक दृष्टि से इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की प्रथम कहानी मानी जाती है परन्तु उसमें आधुनिक कहानी के तत्त्वों का समावेश नहीं है। गहमरी की बँगला से अनूदित जासूसी कहानियों के बाद पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'सरस्वती' में लगभग सन् १९०० में प्रकाशित 'इंदुमती' हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानी जाती है। उसके बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई। बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी अधिक मार्मिक और भाव प्रधान है। श्री जयशंकर प्रसाद ने कल्पना और भावुकता को लेकर 'इंदु' में जो कहानियाँ प्रकाशित कीं वे अपना

अलग ही मार्ग इंगित करती हैं। हास्य-रस की कहानी का प्रारम्भ 'इंदु' में श्री जी० पी० श्रीवास्तव द्वारा हुआ। सन् १९१३ में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की रक्षाबंधन कहानी की ओर हिन्दी जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। उनके गृहस्थ-जीवन के चित्र यथार्थता के अधिक सन्निकट हैं। इसी काल में राजा राधिकारमणसिंह, पं० ज्वालादत्त शर्मा, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि का कहानी क्षेत्र में प्रवेश होता है। श्री प्रेमचन्द्र की कहानियाँ सं० १९७३ से प्रकाशित होने लगीं। प्रेमचन्द्र ने गांधी युग से प्रभावित हो अपनी कहानियों में ग्रामीण उत्पीड़ित जनता के जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रण किया। काव्यात्मक कहानी लिखने की ओर चंडीप्रसाद 'हृदयेश' अधिक उन्मुख हुए। संभवतः वे संस्कृत की आख्यायिकाओं की शैली हिन्दी में प्रचलित करना चाहते थे। इसी युग में सर्वश्रीसुदर्शन, उग्र, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, बख्शी, अज्ञेय, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा आदि सामाजिक, राजनीतिक ऐतिहासिक आदि विभिन्न विषयों को लेकर अवतीर्ण हुए। आज के प्रगतिवादी लेखकों में यशपाल, पहाड़ी, रांगेय राघव आदि जीवन की यथार्थता को उसके नग्न रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आज की कहानी एक ओर 'फ्रायड' के यौनवाद से और दूसरी ओर महर्षि कार्लमार्क्स के साम्यवाद से अनुप्राणित हो रही है। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं रचना-तंत्र की दृष्टि से वह उत्तरोत्तर जीवन

के सन्निकट होती जा रही है। बहुत सम्भव है कि भविष्य में कहानी जीवन के इतने नज़दीक पहुँच जाय कि जीवन चरित्र और कहानी में कोई भेद ही न रह सके। इसी से कहानी के एक अंग रेखा-चरित्र पल्लवित होने की बड़ी सम्भावना है। क्योंकि रेखा-चरित्र कल्पना नहीं; प्रत्यक्ष जीवन का चित्र होता है।

विनयमोहन शर्मा

हिन्दी-विभाग,
नागपुर-विश्वविद्यालय,
तिलक जयन्ती १९४९

विषय-सूची

: एक :

'उसने कहा था।'

(श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी)

बड़े-बड़े शहरों के इक्के गाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखें न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग, चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना माई', 'आने दो लाला जी', 'हटो बाछा', कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह खेते हैं, क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। बात यह नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की

तरह महीन मार, करती हुई । यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगए; हट जा करमाँ वालिए; हट जा पुत्ताँ प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए । समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, तू पुत्र को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है ? बच जा ।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले । उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं । वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ । दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना न हटता था ।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

'मगरे में,—और तेरे ?'

'माझे में,—यहाँ कहाँ रहती है ?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं ?'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले । कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई ?' इस पर लड़की

कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ या दूध वाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ हो गई।'

'कब?'

'कल,—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उँडेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

'राम राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे-बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दीखता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था। यहाँ दिन में

पच्चीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाख से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में, मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती; कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी, बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं! यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन भी नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते, क्यों?' सूबेदार हज़ारासिंह ने मुस्कराकर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक

के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा ?'

'सूबेदार जी, सच है'—लहनासिंह बोला—'पर करें क्या ? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।' 'उदमी उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमां जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।'

'लाड़ी होरां को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम—'

'चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाकू नहीं पीते। यह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं ?'

'अच्छा अब बोधासिंह कैसा है ?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख़्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम माँदे न पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वजीर सिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने मारने की बात लगाई है ?'

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनाई दी। सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है।

बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक ब्रानकोट ओढ़ कर सो रहा है।। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधासिंह भाई! क्या है!'

'पानी पिलादो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम के तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है। पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हं। गुरु उनका भला करें।' यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो?'

'और नहीं झूठ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट ज़ीन का

कुरता पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई।--'सूबेदार हजारासिंह।'

कौन? लपटन साहब! हुक्म हुजूर! कहकर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है, वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने उंगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट के बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा--'लो तुम भी पियो।'

आंख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया । मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब ।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे, तब उसका माथा ठनका । लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा । लपटन साहब पाँच वर्ष से उनकी रेजीमेंट में थे ।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर । क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम और आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ—वही, जब आप खोते* पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का । सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी । और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली । ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है । क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजीमेंट की मैस में लगायेंगे ! 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया' 'ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?'

---

*गधे ।

'हाँ, लहनासिंह दो फ़ुट चार इंच के थे, तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ' कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये।

अंधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?'

(४)

'होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।'

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबदार ने इसका मुँह नहीं देखा, मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा* साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब ?'

---

*सुसरा (गाली)

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एक दम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ, पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं--

'ऐसी तैसी हुकुम की। मेरा हुकुम--जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं दस लाख। एक-एक अकाली सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने--

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके

के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'ग्रा माई गाड *' कहते हुए चित हो गये। लहनासिंह ने तीन गोले बीन-कर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन चार लिफाफे ग्रौर एक डायरी निकाल कर उन्हें ग्रपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला--'क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? ग्राज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं, पर यह तो कहो, ऐसा साफ उर्दू कहाँ से सीख ग्राये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया--'चालाक तो बड़े हो; पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार ग्राँखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गांव में ग्राया था। ग्रौरतों को बच्चे होने का ताबीज बांटता था ग्रौर बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के

* हाय! मेरे राम! (जर्मन)

नीचे मंजा[1] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़कर उनमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी मे बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो--

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया--'क्या है?'

लहनासिंह ने तो उसे यह कह कर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया, और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बांधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था, वह खड़ा था, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा

---

१ खटिया

भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे--

अचानक आवाज आई 'वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा !' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और-- 'अकाल सिक्खाँ दी फौज आई। वाह गुरुजी दी फतह ! वाह गुरुजी दा खालसा !! सत श्री अकाल पुरुख !!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खदक की गाली मिट्टी से पूर लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चांद निकल आया था, ऐसा चांद जिसके प्रकाश स संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्राँस की भूमि मेरे बूटों से चिपक

रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार ने लहनासिंह से सारा हाल सुना और कागज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर-अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बांध कर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही, पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा-- 'तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनी जी की सौगंध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम ?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास ही है।'

'अच्छा, पर--'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था

टकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया ।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं । सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा--'तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं । लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे । अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना । उसने क्या कहा था ?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ । मैंने जो कहा, वह लिख देना ।'

'गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया--'वजीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे । तर हो रहा हूं ।'

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है । जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं । सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है ।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है । अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है । दही वाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है । जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई ? तब 'धत्' कह कर वह भाग जाती है । एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा--'हाँ,

कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू ?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

'वजीरासिंह पानी पिला दे।'

× × ×

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार 'बड़े' में से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुम को जानती हैं। बुलाती हैं ?' कब से ? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई ?--धत्--कल हो गई--देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू--अमृतसर में--'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'--'उसने कहा था।'

× × ×

स्वप्न चल रहा है सूबेदारनी कह रही है--मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों + की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी--'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठा कर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी × में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

+स्त्रियों। × अन्दर का घर

'वजीरासिंह, पानी पिला'––'उसने कहा था ।'

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वजीरासिंह बैठा है । जब माँगता है, तब पानी पिला देता है । आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला––'कौन ? कीरतसिंह ?'

वजीरा ने कुछ समझ कर कहा––'हाँ ।'

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले । अपने पट्ट+पर मेरा सिर रख ले ।'

'हाँ, अब ठीक है । पानी पिला दे । बस, अब के हाड़× में यह आम खूब फलेगा । चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना । जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही बड़ा यह आम है । जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था ।

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे ।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा––फ्राँस और बेल्जियम-६८ वीं सूची––मैदान में घावों से मरा––नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह ।

+जांघ ×आषाढ़

: दो :

विवाह

(श्री ज्वालादत्त शर्मा)

अङ्गनलाल सकसेना बी० ए० का विद्यार्थी है। ऐंट्रेंस से ही उसने संस्कृत ले रक्खी है। अँगरेज़ी और संस्कृत के मिश्रशिक्षण ने उसका हृदय बहुत कुछ उन्नत कर दिया। माता-पिता से उसने जो स्वभाव प्राप्त किया था वह अब बहुत कुछ बदल गया है। शिक्षा की बारीक छलनी में छनकर उसकी क्रूरता और निर्दयता वीरता और नम्रता के रूप में परिणत हो गई है। वह बचपन की अपनी बातों को याद कर के अब दुःखी हुआ करता है। उसने अपने क्रूर स्वभाव के कारण बचपन में अनेक उत्पात किये थे। घसियारों की घास के गट्ठर और कहारियों के भरे हुए घड़े उसने एक बार नहीं, अनेक बार, गिराये और फोड़े थे। एक बार उसने ईख के रसपूर्ण घड़े पर भी ईंट-पात किया था। स्नान करते हुए ग्रामीणों को देखकर वह मन-भर के हँसा था। कालेज के विद्युद्दीप-दीप्त होस्टल के कमरे में अङ्गनलाल प्रसंगवश जब कभी रात को अपने बाल्यकाल की कठोर क्रीड़ाओं का चिन्तन करता तब सचमुच उसका संस्कृत मन दुःख और पश्चात्ताप से भर जाता था। जिन गरीबों को उसने अकारण तंग किया था उनके लिए उसके हृदय में सहानुभूति का गहरा भाव पैदा हो जाता था। किन्तु वह घर की बूढ़ी कहारी के सिवा अब किसी को न जानता-पहचानता

था, जो उनके पास जाकर अपने अपराध को क्षमा कराता और उनकी क्षति पूर्ण कर देता। बूढ़ी कहारी को, जब वह घर जाता था, एक रुपया दे आता था। बूढ़ी समझती थी कि लड़का मेरी सेवा से प्रसन्न हो कर मुझे इनाम देता है; किन्तु अञ्जन बाबू अपने कृत-कर्म का प्रायश्चित्त करके अपने मन को थोड़ा-बहुत हल्का करता था।

बड़े दिन की छुट्टियों से वापिस आने के एक सप्ताह बाद ही उसे पिता, मुन्शी मोतीलाल का पत्र मिला। पत्र सदा की तरह खूब लम्बा था। मटीले कागज़ के कोई दो वर्के रँगे हुए थे। पत्र की नाप का लिफ़ाफ़ा न मिलने के कारण बूढ़े मुन्शी ने उसी कागज़ को मोड़ कर लिफ़ाफ़े का रूप प्रदान कर दिया था। अञ्जनलाल किसी के सामने पिता का पत्र न पढ़ता था। कालेज के संक्षेपताप्रिय लड़के बृहन्निघण्टु के उस बड़े नुसखे को देख कर ज़रूर हँसेंगे--यह उसकी पक्की और सच्ची धारणा थी। इसीलिए रात्री को, भोजनोपरान्त, कमरे के किवाड़ बन्द करके, उसने मुन्शी मोतीलाल का पत्र 'सोलह आने' खोला। आरम्भ की पाँच पंक्तियों में 'बरखुरदार नूरचश्म' पुरस्सर अनेक आशीर्वादात्मक वचनों की सृष्टि सदा की तरह की गई थी। इन शब्दों को कार्ड में भी लिखना वे नहीं भूलते थे। उन्हें लिखते लिखते उनकी आँखें प्रायः आर्द्र हो जाती थीं। उसमें दिये गये प्रति आशीर्वाद को वे अवश्य फलप्रद समझते थे। प्राचीन ढर्रे के बचे हुए पिता

जिस तरह इन आशीर्वादात्मक वाक्यों का लिखना न भूलते थे, नव्य तंत्र का शिक्षित पुत्र उन्हें पढ़ने का कष्ट कभी स्वीकार न करता था। पर इससे क्या? नीचे की कुल पंक्तियाँ तो उसे पढ़नी ही पड़ती थीं। घरेलू वृत्त को चतुर मुन्शी शब्दाडम्बर के गहन वन में इस तरह छिपा देते थे कि बिना सारा पत्र पढ़े मतलब समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। अङ्गनलाल ने पिता के दीर्घकाय पत्र का जो सार समझा, हम उसी को अपने शब्दों में नीचे लिखते हैं--

"बेटा तुम्हारी जिया (माता) अब तुम्हारी दुल्हन को देखने के लिये बहुत आतुर हो रही है। वह रोज मेरे कान खाती और कहती है कि कहीं बहू का मुँह देखे और लग्न का जोड़ा पहने बिना ही मैं न चल बसूँ? प्रिय मैं तो जानता हूँ कि तुम बी० ए० पास करके विवाह करना चाहते हो, पर इसमें अभी दो वर्ष हैं। और, तुम्हारी जिया तो रोज़ अब मरी अब मरी, कह कर मुझे मारे डालती है। भाई, मैं बूढ़ा हूँ। यह दूसरी बात है कि 'ईश्वर के करम से' जवानों से अच्छा हूँ; पर फिर भी पका हुआ आम हूँ। मालूम नहीं किस समय चू पड़ूँ। इन सब बातों को सोचकर मैंने तुम्हारा विवाह मुहल्ले के मुन्शी हरगोपाल की लड़की चुन्नी के साथ करना तय किया है। लड़की तुम्हारे साथ की खेली है। इसलिए उसके विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं। अब रहा दहेज, सो उसके लिए मैंने लाला जी को खूब कस लिया

है। वैसे तो बड़े रईस की दुम बनते थे; पर 'ठहरावे' के समय लाला साहब बैल की तरह कंधा डाल गए। बड़ी मुश्किलों से १५००) की शादी करने पर राज़ी हुए हैं। मैं जानता हूँ, तुम अँग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग ठहरावे का बुरा समझते हो, पर यह तुम्हारी भूल है। बड़ी अच्छी रसम है। नहीं तो हमारे पुरखा क्या बेवकूफ थे जो ये रसम बाँध गए हैं। तुम अभी इन बातों को क्या समझो! अरे भाई! वे तो ५००) की शादी से चले थे। जब मैंने उनके वे ढंग देखे तब मैंने भी साफ-साफ कह दिया कि मेरा लड़का दस हज़ार को भी सस्ता है, चलो हवा खाओ! यह सुनकर तो उन्हें दिन में तारे दिखलाई दे गये। तब कहीं लाला साहब १५००) की शादी करने पर तैयार हुए हैं। भय्या, लोग बड़े दूकानदार हैं। अब तुम मेरी और अपनी माँ की बात को मान कर और मेरे बुढ़ापे पर तरस खाकर शादी को मंजूर कर लो। आजकल की बातें हैं कि पिता पुत्र से पूछ कर ब्याह पक्का करता है, नहीं तो हमारे 'वालिद माजिद्' ने तो हम से जिक्र तक भी न किया था। और, करते भी कैसे? उस समय हमारी, 'ईश्वर रक्खे,' कोई आठ साल की उम्र थी। खैर, मैं यह जानता हूँ कि तुम चाहे बी० ए० में पढ़ो चाहे पी० ए० में, किन्तु हो लायक बाप के बेटे।"

मुन्शी मोतीलाल ने बैंजनी स्याही से मटीले कागज़ के पूरे दो तख्ते लिखकर अन्त में पत्र को इस तरह समाप्त किया था--

"लिखने को अभी बहुत बातें हैं किन्तु आज मुझे कचहरी में एक जरूरी काम के लिए जाना है। इसलिए अब इसे यहीं समाप्त करता हूँ।"

पत्र को पढ़कर अङ्गनलाल के मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे। चुन्नी के लावण्यमय चेहरे का उदय उसमें बार-बार होने लगा। यह अनिन्द्य सुन्दर चन्द्रमुख पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करने की जबर्दस्त सिफारिश उससे करने लगा। शिक्षित पुत्र इस विवाह को स्वीकार करके अपने हिसाब माता-पिता की आज्ञा पालन और नैतिक पुण्य प्राप्त करने का प्रपञ्च रच रहा था, किन्तु उसके मन के अन्तस्तल में चुन्नी के देवता दुर्लभ रूप का ही लोभ विशेष था।

पिता के पत्र का संक्षिप्त उत्तर लिखकर अङ्गनलाल ने निद्रा देवी की गोद में आश्रय ग्रहण किया।

(२)

बरेली के बिहारीपुर मुहल्ले में खूब धूम-धाम है। मुन्शी मोतीलाल का मकान मेहमानों से भर रहा है। स्त्री-पुरुष के झुण्ड आ रहे हैं। एक ओर दावत का विराट् आयोजन है, दूसरी ओर नाच-गाने का पूरा प्रबन्ध है। शिक्षित पुत्र इन सब कामों को देखकर मन हा मन घुट रहा है, किन्तु पिता को इन अनर्थपूर्ण कामों से रोकने का उसमें साहस या दुस्साहस नहो है।

मुन्शी शिवदयाल, जो मुन्शी मोतीलाल के अभिन्न मित्र ह, मद्य के नशे में मस्त हो रहे हैं। वे प्रबन्ध करने के बहाने प्रबन्ध की जी खोलकर मिट्टी पलीद कर रहे हैं। मुन्शी मोतीलाल को सामने से आता हुआ देख कर मुन्शी शिवदयाल पारे की

तरह बिखर गए और बोले—"सुना है, समधी ने सगुन में ३००) भेजे हैं और हम यहाँ उसके इन्तजार में चार सौ की पी गए। हा ! हा ! भतीजे का ब्याह है।" यह कह कर उन्होंने शराबीजन-सुलभ एक विशेष मुद्रा का प्रकाश किया, जिसे देख कर बालक हँसने लगे और जवानों ने मुँह नीचे को कर लिया।

दूसरी ओर एक और बूढ़े मुन्शी खड़े हुए थिथक रहे थे। लड़कों की तालियाँ सुन कर वे, सफल व्याख्याता की तरह घूम-घूम कर भाव वता रहे थे। इस ताण्डव-काण्ड को देख कर अङ्गनलाल के रोमाञ्च हो आये। उसने समझा कि विवाह का निर्विघ्न समाप्त होना मुश्किल है। जहाँ पिता जैसे दरियानोश और मुन्शी शिवदयाल जैसे चुल्लू में उल्लू होने वाले बराती मौजूद हों वहाँ जो उत्पात न हो जाय, थोड़ा है।

रात भर नाच होता रहा। मद्य की गंध से मँगनई की दरी, कालीन और चाँदनियाँ सभी बस गईं।

मकान में अपनी सच्ची सहधर्म्मिणी से मुन्शी मोतीलाल ने कहा—देखो, नंगे ने कैसा जोड़ा भेजा है। मैंने इसीलिए तो उसे कसा था। जोड़े में कसर कर गया। खत में लिखा है कि जोड़ा ६५।=) ३ पाई की लागत का है। वाह ! हमारे यहाँ की कहारियाँ ऐसे जोड़े पहनती ह।

मुन्शी जी ने प्याले की पूर्णाहूति करते हुए कहा—मेरे जी में तो आया था कि उस बारहताली (समधन) के यहाँ

जाकर उससे दो दो हाथ कर आऊँ। लेकिन अपनी ओर देख कर चुप हो रहा। लड़की का व्याह करने चली है या झीकने!

इसी तरह के भिन्न-भिन्न स्तोत्रों से समधी-समधिन लड़की के माता-पिता के गुणगान करने लगे। बेचारा अर्जुन उस समय हर्बर्ट स्पेन्सर का समाज-शास्त्र पढ़ रहा था। किन्तु अपने घर की सामाजिक दशा का जीवन्त चित्र देखकर वह उसे अधिक न पढ़ सका। उसके विवाह में अब भी इक्कीस दिन की देर थी।

(३)

मुन्शी हरगोपाल साधारण प्रकृति के पुरुष थे। पिता जो कुछ थोड़ा-बहुत छोड़ गए थे उसी से वे अपना निर्वाह करते थे। रहने का मकान और छोटी-सी एक मिलकियत थी। उसी में सीर करा कर मुन्शी हरगोपाल साल भर का अन्न प्राप्त कर लेते थे। मोटे लेन देन और खँडसाल से भी उन्हें खासी प्राप्ति हो जाती थी। इसी तरह वे बड़ी युक्ति से, पर प्रतिष्ठा के साथ, अपना काम चलाते थे। उनके एक लड़का और एक लड़की—चुन्नी थी। चुन्नी का भाई रघुबर एम० ए० के प्रथम वर्ष में पढ़ता था। विवेकी पिता ने अपनी आमदनी का अधिक भाग होनहार पुत्र की पढ़ाई में खर्च किया था। यद्यपि मुन्शी हरगोपाल टेम्परेन्स सोसायटी या कायस्थ कान्फ्रेंस के किसी अधिवेशन में भी सम्मिलित नहीं हुए थे, किन्तु फिर भी शराब को मुँह न लगाते थे।

अञ्जनलाल पर शुरू से उनकी नज़र थी। किन्तु उसके माता-पिता से उन्हें डर लगता था। लड़के की योग्यता को देख कर वे जरूर चाहते थे कि अपनी लड़की का विवाह उस के साथ करें। सब कुछ सोच विचार कर उन्होंने बात चलाई। जैसा सोचते थे वैसा ही जवाब मिला। ५०००) तलब हुए। मुन्शी जी का सब कुछ बिक कर भी मुश्किल से इतना रुपया इकट्ठा हो सकता था। उनके विभिन्न कामों को देख कर लोग उन्हें जरूर मालदार समझते थे, किन्तु वे अपनी श्रमलब्ध आय से प्रतिष्ठा के साथ अपना काम चलाते जाते थे। मुहल्ले के दो-चार भले आदमियों को बीच में डाल कर उन्होंने मामले को पक्का किया। भाव-ताव होने लगे। मुन्शी मोतीलाल ने उसी दिन से मद्य की मात्रा सवाई कर दी। आखिर को १५००) पर जाकर लड़के का सौदा हुआ। करीब एक हजार उनके पास था। बाकी रुपये के लिये उन्होंने कर्ज की व्यवस्था की। उनके एक ही लडकी थी। इसलिए उन्होंने सोचा कि लड़की की भलाई के लिए अपनी कुछ दिनों की तकलीफ का विचार न करना चाहिए। कर्ज के लिये बात-चीत हो गई। कागज़ खरीद लिया गया। एक-दो रोज में रुपया मिल जाता कि इतने ही में लग्न भेज कर वृद्ध हरगोपाल मस्तिष्क ज्वर से पीड़ित हो गये। चार दिन तक होश न हुआ। मुहल्ले में ही समधियाना था। मुन्शी मोतीलाल भी देखने आये। इस समय भी हरगोपाल बेहोश थे। अञ्जनलाल ने पहले तो वहाँ जाने में संकोच किया,

किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि मुन्शी हरगोपाल का हाल बुरा है, तब वह तत्काल वहाँ पहुंचा। उस समय उसे ध्यान भी न रहा कि वह ससुराल जा रहा है। मकान में जाते ही उसने सदा की तरह चुन्नी को पुकारा। चुन्नी बेहोश पिता के मुँह में जल डाल रही थी। उसने जवाब तो कुछ न दिया, एक गम्भीर, पर कातर-दृष्टि से उसे देख भर लिया। उस दुःख भरी सुकोमल दृष्टि में कितनी तीक्ष्णता थी, कितनी वेदना थी--अङ्गनलाल अनुभव करने लगा। माँ ने आकर लड़की को अंदर भेज दिया। अङ्गनलाल बहुत देर तक बैठा रहा। हाल पूछता रहा। वह चुन्नी की माँ को चाची कहा करता था। उसने कहा--चाची जी, आप कहें तो मैं रात को यहीं रह जाऊँ। आप किसी तरह का संकोच न कीजिएगा। किन्तु चुन्नी की माता ने उसे रोकने की आवश्यकता न समझी।

दूसरे दिन मुहल्ले के सब आदमियों ने बड़े दुःख से सुना कि मुन्शी हरगोपाल का देहावसान हो गया।

(४)

मुन्शी मोतीलाल की छोटी सी बैठक में उनके मित्र मुन्शी शिवदयाल बैठे हुए हैं। रात्रि का समय है। यथामिलितोपचार से भगवती वारुणी का आवाहन हो रहा है। दोनों मित्र मौज में खा पी रहे हैं। बातें हो रही हैं। मुन्शी शिवदयाल ने चुस्की भरते हुए पूछा--भाई हुआ बुरा, लड़की का नसीब।

मुन्शी मोतीलाल ने कहा--भाई, मौत मे किसका

इजारा है। पर तुमने और भी सुना ! वह बेवा कुछ रंगत बदल रही है। कहती है कर्ज़ लेकर शादी करना चाहते थे। अब कर्ज़ मिलता नहीं। कहाँ से रुपया आवे। अब तुम्हारे हाथ की लाज है। कहो भाई; शिवदयाल, तुम्हें भी यक़ीन होता है कि उस कंजूस को रुपया कर्ज़ लेने की ज़रुरत थी। हमने कभी उसे खाते-पीते नहीं देखा, कभी होली-दिवाली पर, तुम्हीं कहो, वह एक बूँद शराब पिलाता तो क्या, पीता भी था ?

"राम ! राम ! ! वह तो ऐसा कम्बख्त था कि न पिये था न पिलाये था। हमें तो इस बात का रत्ती भर यक़ीन नहीं होता।"

"मैं भी इन धोखे वाली बातों में आने वाला नहीं।"

इसी समय द्वार खुला और मुहल्ले के दो भलेमानसों ने प्रवेश किया। मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी आवभगत से उन्हें लिया और स्वागत के तौर पर मद्य का प्याला उनके सामने उपस्थित किया। उन्होंने बड़ी नम्रता से निषेध किया और कहा—

"इस समय हम आपकी सेवा में इसलिए उपस्थित हुए हैं कि कल, जैसा कि आपको मालूम है, लाला हरगोपाल जी के यहाँ शुद्धि आदि तो हो गई। अब भी विवाह में सात दिन बाक़ी हैं। आज्ञा हो तो इसी मिति पर, नहीं १०-१२ दिन बाद, किसी शुभ मुहूर्त में यह काम हो जाना चाहिये। अब बेवा की इज़्ज़त आपके हाथ में है। वहाँ लड़की और गंगाजल के सिवा और कुछ नहीं है।"

मुन्शी मोतीलाल ने कबाब के टुकड़ों को चबाकर निगलने

की सुविधा को न देख वैसे ही कण्ठ से नीचे उतारते हुए कहा--"भाई इन बातों को रहने दो। उससे कह दो, शादी चाहे छः माह बाद कर दे; किन्तु 'करार-दाद' का जो रुपया बाक़ी है वह उसे देना होगा। नहीं, दूसरा लड़का तजवीज़ कर ले। भाई शिवदयाल तुम्हें मालूम ही है कि नन्हें की कैसे-कैसे ऊँचे-ऊँचे घरानों से सगाई आती थी। और अब भी क्या बिगडा है। उन्हें लड़के बहुत, हमें लड़कियाँ बहुत। यह कहते-कहते मन्शीलाल ने मद्य का आधा गिलास एक ही घूँट में पी डाला।

इसी बीभत्स काण्ड को देखकर और ऊपर लिखी अमानुषिक बातों को सुनकर उन दोनों सज्जनों को अपनी सफलता में भारी संदेह हो गया। किन्तु उन्होंने फिर एक बार कुछ कहना चाहा था कि मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी तेज़ी से जवाब दिया--"महाशय, आप मुझे बेवक़ूफ़ न बनाइये। कल प्रातःकाल उसका सब सामान जो लग्न में आया है, अपना ख़र्च काट कर आप लोगों के सामने उसके हवाले कर दूँगा। बस ज़्यादा बकझक से कुछ फ़ायदा नहीं।"

दोनों भलेमानस ठंडी सी साँस लेकर वहाँ से उठ आये।

(५)

"चुन्नी।"

"हाँ नन्हें जी--" उसकी जबान से भी एक साथ निकल गया। भावावेश में मानसिक व्यापार का अस्त-व्यस्त हो जाना नितांत स्वाभाविक है।

अङ्गनलाल ने अन्दर जाकर अपनी सास से कहा–विवाह अभी होगा। ठीक-ठाक कीजिये। बाहर वे दोनों भद्र पुरुष बैठे हैं। वे इसी समय विवाह हो जाना उचित समझते हैं। मुझसे अब तक पिताजी ने कुछ नहीं कहा। यदि कुछ कह दिया तो मैं बड़ी दुविधा में पड़ जाऊँगा। लग्न वापिस हो जाने पर बड़ी दिक्कत हो जायेगी। आप विलम्ब न करें। मुहल्ले के प्रतिष्ठित आदमी अभी एक घंटे में एकत्र हुए जाते हैं।

विधवा पहले तो कुछ न समझी। किन्तु थोड़ी देर ही में एक-एक करके सभी बातें उसके शोकाकुल दिमाग में बैठ गईं।

दो घंटे के अन्दर ही घर का नकशा ही बदल गया। जो घर दीर्घ-निश्वासों और करुण-रोदन से, कुछ समय पहले शोक की मूर्ति बना हुआ था, अब वैवाहिक मंत्रों की मधुर ध्वनि से पूरित हो गया। पाणिग्रहण के समय अङ्गनलाल ने जब चुन्नी का काँपता हुआ हाथ पकड़ा तब उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव हुआ। उसने बचपन से अनेक बार उस हाथ को पकड़ा था, किन्तु उसमें वैसी उष्णता, वैसी कृतज्ञता की अनुभूति और वैसा अनिर्वचनीय भाव इससे पहले उसे कभी अनुभूत न हुआ था।

प्रातःकाल छः बजे जब पुत्र को स्थान पर न पाकर पिता मोतीलाल क्रोध में भरे हुए और लग्न के सामान की गठरी बगल में मारे, अपने मित्र शिवदयाल के साथ विधवा के मकान पर आये, तब प्रातःकाल की मन्द समीर में मिले हुए

पूत, यज्ञ धूम की मनोहर सुगन्धि से उनके द्वेषपूर्ण मन को जरूर कुछ शान्ति प्राप्त हुई। मुन्शी मोतीलाल जानते थे कि अङ्गनलाल जरूर अपनी शीघ्र टूटने वाली ससुराल गया होगा, और कहीं विधवा उसे अपने वाग्जाल में न फंसा ले, इसी भय से वे इस सम्बन्ध को विच्छिन्न करने के लिये, मित्र को साथ लेकर यथा-शीघ्र आये थे। बाहर बैठे आदमी से उन्होंने साधारणतया पूछा--नन्हे कहाँ है ?

भोले नौकर ने साधारणतया उत्तर दिया--अभी अन्दर ही हैं. आप भी जा सकते हैं। चुन्नी का हाथ पकड़े हुए अभी अङ्गनलाल विवाह की वेदी से उठा ही था कि पिता के दर्शन हुए। पिता भी जो कुछ देख रहे थे उसे वेदांतियों की माया की तरह अनिर्वचनीय समझते थे--न सच समझते थे, न झूठ। चित्रवत् खड़े थे। शांत दृश्य को देख रहे थे। अङ्गनलाल ने अपनी वधू से कहा--"चुन्नी पिताजी के चरण छुओ। इन्हीं चरणों की सेवा करने के लिए मैंने आज तुम्हारा पाणिग्रहण किया है।"

जिस समय वधू विद्यावती, उर्फ़ चुन्नी ने ससुर के चरण स्पर्श किये उस समय कठोर मोतीलाल का पाषाण-हृदय भी द्रवीभूत हो गया। वधू के सौभाग्यपूर्ण चेहरे को देखकर, पुत्र के साहस और उसकी सहृदयता को देखकर, या पुत्र विवाह के प्राकृतिक हर्ष से आत्म-विस्मित होकर, उसने चुन्नी बहू के सिर पर हाथ रख कर कहा--"प्यारी बेटी सौभाग्यवती हो।"

लग्न के सामान की गठरी बगल में दबाये ठंडे पाँव वापिस आकर जब उन्होंने नन्हे की माँ से आकर कहा--सुनती हो

तुम्हारे नन्हें का विवाह हो गया, तैयारी करो--बहू आती है"--उस समय सचमुच बूढ़ के चेहरे पर कठारता या नीचता का भाव निशान को भी नहीं था। उसका झुर्री पड़ा चहरा पुत्र की सहृदयता और वधू की सौभाग्य-शालीनिता से अभिभूत हो कर एक स्वर्गीय भाव से आलोकित हो रहा था।

: तीन :

इक्के वाला

(विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

स्टेशन के बाहर आकर मैंने अपने साथी मनोहरलाल से कहा—कोई इक्का मिल जाय, तो अच्छा है—दस मील का रास्ता है। मनोहरलाल बोले—आइये, इक्के बहुत हैं। उस तरफ खड़े होते हैं।

हम दोनों चले। लगभग दो सौ गज चलने के पश्चात् देखा, तो सामने एक बड़े वृक्ष के नीचे तीन-चार इक्के खड़े दिखाई दिये। एक इक्का अभी आया था और उस पर से दो आदमी अपना असबाब उतार रहे थे। मनोहरलाल ने पुकारा—कोई इक्का गंगापुर चलेगा?

एक इक्के वाला बोला——आइये सरकार, मैं ले चलूँ। कै सवारी है?

'दो सवारी—गंगापुर का क्या लोगे?'

'जो सब लेते हैं, वही आप भी दे दीजियेगा।'

'आखिर कुछ मालूम तो हो?'

'दो रुपये का निरख (निर्ख)'

'दो रुपये?—इतना अन्धेर!'

इसी समय जो लोग अभी आये थे, उनमें और इक्के वाले

में झगड़ा होने लगा। इक्के वाला बोला--यह अच्छी रही, वहाँ से डेढ़ रुपया तय हुआ, अब यहाँ बीस ही आने दिखाते हैं।

यात्रियों में से एक बोला--हमने पहले ही कह दिया था, कि हम बीस आने से एक पैसा अधिक न देंगे।

'मैंने भी तो कहा था, कि डेढ़ रुपये से एक पैसा कम न लूँगा।'

'कहा होगा, हमने तो सुना नहीं!'

'हाँ, सुना नहीं--ऐसी बात आप काहे को सुनेंगे!'

'अच्छा तुम्हें बीस आने मिलेंगे--लेना हो तो लो, नहीं अपना रास्ता लो।'

इक्केवाला, जो हृष्ट-पुष्ट गौरवर्ण था, अकड़ गया--बोला--रास्ता कैसे देखें, कोई अन्धेर है! ऐसे रास्ता देखने लगें, तो बस कमाई कर चुके। बायें हाथ से इधर डेढ़ रुपया रख दीजिये, तब आगे बढ़ियेगा! वहाँ तो बोले, अच्छा जो तुम्हारा रेट होगा वह देंगे; अब यहाँ कहते हैं, रास्ता देखो--अच्छे मिले!

हम लोग यह कथोपकथन सुनकर इक्का करना भूल गये और उनकी बातें सुनने लगे। एक यात्री बड़ी गम्भीरता पूर्वक बोला--देखो जी, यदि तुम भलमनसी से बातें करो, तो दो-चार पैसे हम अधिक दे सकते हैं, गरीब आदमी हो, लेकिन जो झगड़ा करोगे, तो एक पैसा न मिलेगा।

इक्के वाला किंचित् मुस्कराकर बोला--दो-चार पैसे! ओफ ओह--आप तो बड़े दाता मालूम होते ह! जब चार पैसे देते हो, तो चार आने ही क्यों नहीं देते?

'चार आने हमारे पास नहीं हैं।'

'नहीं हैं—अच्छी बात है, तो जो आपके पास हो वही दे दीजिए—न हो न दीजिए और ज़रूरत हो तो एकाध रुपया मैं आपको दे सकता हूँ।'

'तुम बेचारे क्या दोगे, दो-चार पैसे के लिये तो तुम झूठ बोलते हो और बेईमानी करते हो।'

'अरे बाबूजी, लाखों रुपयों के लिए तो मैंने बेईमानी की नहीं चार पैसे के लिए बेईमानी करूँगा? बेईमानी करता तो इस समय इक्का न हाँकता होता—खैर आपको जो देना हो दे दीजिए—नहीं जाइए—मैंने किराया भर पाया।'

उन्होंने बीस आने निकाल कर दिये। इक्के वाले ने चुपचाप ले लिये।

उस इक्के वाल का आकार-प्रकार, उसकी बात-चीत से मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य इक्के वालों की तरह यह साधारण आदमी नहीं है। इसमें कुछ विशेषता अवश्य है; अतएव मैंने सोचा कि यदि हो सके, तो गंगापुर इसी के इक्के पर चलना चाहिए। यह सोच कर मैंने उससे पूछा—गंगापुर चलोगे?

वह बोला—हाँ! हाँ! आइये!

'क्या लोगे?'

'वही डेढ़ रुपया!'

मैंने सोचा, अन्य इक्के वाले तो दो रुपये माँगते थे, यह

डेढ़ रुपया कहता है, आदमी सच्चा मालूम होता है। यह सोचकर मैंने कहा--अच्छी बात है, चलो डेढ़ रुपया देंगे।

हम दोनों सवार होकर चले। थोड़ी दूर चलने पर मैंने पूछा--ये दोनों कौन थे? इक्केवाले ने कहा नारायण जाने कौन थे, परदेसी मालूम होते हैं; लेकिन परले सिरे के झूठे और बेईमान! चार आने के लिये प्राण तजे दे रहे थे।

मैंने पूछा--तो क्या सचमुच तुमसे डेढ़ रुपया ही तय हुआ था!

'और नहीं क्या आप झूठ समझते हैं?' बाबू जी, यह पेशा ही बदनाम है, आपका कोई कसूर नहीं? इक्के, ताँगे वाले सदा झूठे और बेईमान समझे जाते हैं। और होते भी हैं--अधिकतर तो ऐसे ही होते हैं। इन्हें चाहे रुपये की जगह सवा रुपया दीजिये तब भी सन्तुष्ट नहीं होते।

मैंने पूछा--तुम कौन जाति हो?

'मैं? मैं तो सरकार वैश्य हूँ।'

'अच्छा! वैश्य हो कर इक्का हाँकते हो।'

'क्यों सरकार, इक्का हाँकना कोई बुरा काम तो है नहीं?'

'नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है कि इक्का हाँकना कोई बुरा काम है। मैंने इसलिए कहा कि वैश्य तो बहुधा व्यापार करते हैं।'

'यह भी तो व्यापार ही है।'

'हाँ, है तो व्यापार ही।')

मैं मन ही मन अपनी इस बेतुकी बात पर लज्जित हुआ,

अतएव मैंने प्रसंग बदलने के लिए पूछा--कितने दिनों से यह काम करते हो ?

'दो बरस हो गये ।'

'इसके पहले क्या करते थे ?'

यह सुनकर इक्के वाला गम्भीर होकर बोला--क्या बताऊँ क्या करता था ।

उसकी इस बात से तथा यात्रियों से उसने जो बातें कहीं थीं उनका तारतम्य मिलाकर मैंने सोचा--इस व्यक्ति का जीवन रहस्यमय मालूम होता है । यह सोचकर मैंने उससे पूछा--कोई हर्ज न समझो, तो बताओ ।

'हर्ज तो कोई नहीं है बाबूजी ! पर मेरी बात पर लोगों को विश्वास नहीं होता । इक्के वाले बहुधा परले-सिरे के गप्पी समझे जाते हैं, इसलिए मैं किसी को अपना हाल सुनाता नहीं ।'

'खैर, मैं उन आदमियों में नहीं हूँ, यह तुम विश्वास रखो ।'

अच्छी बात है सुनिये--

(२)

मैं अगरवाल बनिया हूँ । मेरा नाम श्यामलाल है । मेरा जन्मस्थान मैनपुरी है । मेरे पिता व्यापार करते थे । जिस समय मेरे पिता की मृत्यु हुई, उस समय मेरी उम्र १५ साल की थी । पिता के मरने पर घर गृहस्थी का सारा भार मेरे ऊपर पड़ा । मैंने एक वर्ष तक काम-काज चलाया, पर मुझे व्यापार का अनुभव न था, इस कारण घाटा हुआ और मेरा

सब काम बिगड़ गया। अन्त को और कोई उपाय न देख मैंने वहीं एक धनी आदमी के यहाँ नौकरी कर ली। उस समय मेरे परिवार में मेरी माता और एक छोटी बहन थी। जिनके यहाँ मैंने नौकरी की थी वह थे तो मालदार, परन्तु बड़े कंजूस थे। ऊपर से देखने में वह एक मामूली हैसियत के आदमी दिखाई पड़ते थे, परन्तु लोग कहते थे, कि उनके पास एक लाख के लगभग नकद रुपया है। उस समय मैंने लोगों की बात पर विश्वास नहीं किया था, क्योंकि घर की हालत देखने से किसी को यह विश्वास नहीं हो सकता था, कि उनके पास इतना रुपया होगा। उनकी उम्र उस समय चालीस से ऊपर थी। उन्होंने दूसरी शादी की थी और उनकी पत्नी की उम्र बीस वर्ष के लगभग थी। पहली स्त्री से उनके एक लड़का था। वह जवान था और उसका विवाह इत्यादि सब हो चुका था। उसका नाम शिवचरण लाल था। पहले तो वह अपने पिता के पास ही रहता था, परन्तु जब पिता ने दूसरा विवाह किया, तो वह नाराज होकर अपनी स्त्री सहित फर्रुखाबाद चला गया। वहाँ उसने एक दुकान कर ली और वहीं रहने लगा।

उन दिनों मुझे कसरत करने का शौक था, इसलिए मेरा बदन बहुत अच्छा बना हुआ था। कुछ दिनों पश्चात् मेरी मालिकिन मेरी बहुत खातिर करने लगीं। खूब मेवा-मिठाई खिलाती थीं और महीने में दस-बीस रुपये नकद दे देती थीं। इस कारण दिन बड़ी अच्छी तरह कटने लगे। मैं मालिकिन के

खातिर करने का असली मतलब उस समय नहीं समझा। मैंने जो समझा, वह यह था, कि मेरी सेवा से प्रसन्न होकर तथा मुझे गरीब समझ कर वह ऐसा करती हैं। आखिर जब एक दिन उन्होंने मुझे एकान्त में बुलाकर छेड़-छाड़ की. तब मेरी आँखें खुली। मुझे आरम्भ से ही इन कामों से नफरत थी। मैं इन बातों को जानता भी नहीं था, न कभी ऐसी संगति ही में रहा था, जिसमें इन बातों का ज्ञान प्राप्त होता। मैं उस समय जो जानता था वह यह था; कि आदमी को खूब कसरत करनी चाहिए और स्त्रियों से बचना चाहिये। जब मालिकिन ने छेड़-छाड़ की, तो मुझे उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होने के बदले भय मालूम हुआ। मेरा कलेजा धड़कने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह एक चुड़ैल है और मुझे भक्षण करना चाहती है।

इक्के वाले की इस बात पर मेरे साथी मनोहरलाल बहुत हँसे, बोले––तुम तो बिलकुल बुद्धू थे जी !

श्यामलाल बोला––अब जो समझिये, परन्तु बात ऐसी ही थी। खैर, मैं अपना हाथ छुड़ाकर उनके सामने से भाग आया। अब मुझे उनके सामने जाते डर मालूम होने लगा। यही खटका लगा रहता था, कि कहीं किसी दिन फिर न पकड़ ले। तीन-चार दिन बाद वही हुआ। उन्होंने अवसर पाकर फिर मुझे घेरा। उस दिन मैंने उनसे साफ-साफ कह दिया, कि यदि वह ऐसी हरकत करेंगी, तो मैं मालिक से कह दूँगा। बस उसी दिन से मेरी खातिर बन्द हो गई। केवल खातिर बन्द होकर

रह जाती; वहाँ तक गनीमत थी, परन्तु अब उन्होंने मुझे तङ्ग करना आरम्भ किया। बात-बात पर डाँटती थीं। कभी-कभी मालिक से शिकायत कर देती थीं। आखिर जब एक दिन मालिक ने मुझे मालिकिन के कहने से बहुत डाँटा, तो मैंने उन्हें अलग ले जा कर कहा—लालाजी, मेरा हिसाब कर दीजिये, मैं अब आप के यहाँ नौकरी नहीं करूँगा। लालाजी लाल-पीली आँखें करके बोले—एक तो कसूर करता है और उस पर हिसाब माँगता है? मुझे भी तैश आ गया। मैंने कहा—कसूर किस सुसरे ने किया है? लालाजी बोले—तो क्या मालिकिन झूठ कहती है? मैंने कहा—बिलकुल झूठ! लालाजी ने कहा—तेरे से उनकी शत्रुता है क्या? मैंने कहा—हाँ शत्रुता है। उन्होंने पूछा—क्यों? मैंने कहा—अब आप से क्या बताऊँ। आप उसे भी झूठ मानेंगे। इसलिए सबसे अच्छी बात यही है, कि मेरा हिसाब कर दीजिए। मेरी बात सुनकर लाला के पेट में खलबली मची। उन्होंने कहा—पहले यह बता, कि बात क्या है? मैंने कहा—उसके कहने से कोई फायदा नहीं, आप मेरा हिसाब दे दीजिए, परन्तु लाला मेरे पीछे पड़ गये। मैंने विवश होकर सब हाल बता दिया। मुझे भय था, कि लाला को मेरी बात पर विश्वास न होगा। पर ऐसा नहीं हुआ। लाला ने मेरी पीठ पर हाथ फेर कर कहा—शाबाश श्यामलाल, मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम आनन्द से रहो, तुम्हारी तरफ कोई आँख उठाकर नहीं देख सकेगा। बस उस दिन से मैं निर्द्वन्द्व

हो गया । अब अधिकतर मैं मालिक के पास बाहर ही रहने लगा, भीतर बहुत कम जाता था । उसके पश्चात् भी मालिकिन ने मेरे निकलवाने के लिये चेष्टा की पर लाला ने उनकी एक न सुनी, आखिर वह भी हार कर बैठ रही ।

इस प्रकार एक वर्ष और बीता । इस बीच में लाला के एक रिश्तेदार––जो उनके चचेरे भाई होते थे––बहुत आने जाने लगे । उनकी उम्र पच्चीस-छब्बीस वर्ष के लगभग होगी । शरीर के मोटे ताज़े और तन्दुरुस्त आदमी थे। पहले तो मुझे उनका आना-जाना कुछ नहीं खटका; किन्तु वह मालिकिन के पास घण्टों बैठे रहते हैं, तो मुझे हुआ, कि हो-न-हो दाल में कुछ काला अवश्य है । लाला जी अधिकतर दूकान में रहने के कारण यह बात न जानते थे । घर का कहार भी मालिकिन से मिला हुआ मालूम होता था; इसलिए वह भी चुप्पी साधे था । एक मैं ही ऐसा था, जिसके द्वारा लाला को यह खबर मिल सकती थी । अन्त में मैंने इस रहस्य का पता लगाने पर कमर बाँधी और एक दिन अपनी आँखों उनकी पापमयी लीला देखी । बस उसी दिन मैंने लाला को खबर कर दी । लाला उस बात को चुपचाप पी गये । आ - दस रोज बाद लाला ने मुझे बुलाकर कहा––श्यामलाल, तेरी बात ठीक निकली, आज मैंने भी देखा । जिस दिन तूने कहा था, उसी दिन से मैं इसकी टोह में था––आज तेरी बात की सत्यता प्रमाणित हो गई । अब बता, क्या करना चाहिए ? मैंने इस उम्र में विवाह करके बड़ी भूल की; पर

अब इसका उपाय क्या है ? मैंने कहा--अपने भाई साहब का आना-जाना बन्द कर दीजिये, यही उपाय है और हो ही क्या सकता है ? लाला ने सोच कर कहा--हाँ, यही ठीक है। जी में तो आता है, कि इस औरत को निकाल बाहर करूँ; पर इसमें बड़ी वदनामी होगी। लोग हँसेंगे कि पहले तो विवाह किया, फिर निकाल दिया।

मैंने कहा--हाँ, यह तो आपका कहना ठीक है। बस उनका आना-जाना बन्द कर दीजिये; अतएव उसी दिन से यह हुक्म लग गया, लाला की अनुपस्थिति में बाहर का कोई आदमी चाहे रिश्तेदार हो, चाहे कोई हो--अन्दर न जाने पावे। और यह काम मेरे सुपुर्द किया गया। उस दिन से मैंने उन्हें नहीं घुसने दिया। इस पर उन्होंने मुझे प्रलोभन भी दिये, धमकी भी दी; पर मैंने एक न सुनी। मालिकिन ने भी बहुत कुछ कहा सुना, खुशामद की; पर मैं जरा भी न पसीजा। कहरवा भी बोला--तुमको इससे क्या मतलब है, जो होता है, होने दो। मैंने उससे कहा--सुनता है बे, तू तो पक्का नमकहराम है, जिसका नमक खाता है, उसी के साथ दगा करता है। खैरियत इसी में है, कि चुप रह, नहीं तो तुझे भी निकाल बाहर करूँगा।

यह सुन कर कहारराम चुप हो गये।

थोड़े दिन बाद लाला के उन रिश्तेदारों ने आना जाना बिलकुल बन्द कर दिया। अब वह लाला के पास भी नहीं आते थे। मैंने भी सोचा, चलो अच्छा हुआ, आँख फूटी पीर गई।

इसके छः महीने बाद एक दिन लाला को हैज़ा हो गया। मैंने बहुत दौड़-धूप की; इलाज इत्यादि कराया पर कोई फायदा न हुआ। लाला जी समझ गये, कि अन्त समय निकट है; अतएव उन्होंने मुझे बुलाकर कहा--श्यामलाल, मैं तुझे अपना नौकर नहीं, पुत्र समझता हूँ; इसलिए मैं अपनी कोठरी की ताली तुझे देता हूँ। मेरे मरने पर ताली मेरे लड़के को देना और जब तक वह न आ जाय, तब तक किसी को कोठरी न खोलने देना। बस तुझ से मैं इतनी अन्तिम सेवा चाहता हूँ।

मैंने कहा--ऐसा ही होगा, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न चले जायँ; पर मैं इसमें अन्तर न पड़ने दूँगा। इसके पश्चात् उन्होंने मुझे पाँच हजार रुपये नकद दिये और बोले--यह लो, मैं तुम्हें देता हूँ। मैं लेता न था; पर उन्होंने कहा--तू यदि यह न लेगा, तो मुझे दुःख होगा; अतएव मैंने ले लिये। इसके चार घण्टे बाद उनका देहान्त हो गया। उनके लड़के को उनके मरने के तीन घण्टे पहले तार दे दिया था। उनके मरने के पाँच घण्टे बाद वह मैनपुरी पहुँचा था। उनका देहान्त रात को आठ बजे हुआ और वह रात के दो बजे के निकट पहुँचा था। लाला के मरने के बाद उनकी स्त्री ने मुझसे कहा--कोठरी की ताली लाओ। मैंने कहा--ताली तो लाला, शिवचरण लाल के हाथ में देने को कह गये हैं, मैं उन्हीं को दूँगा। उन्होंने कहा--अरे मूर्ख, इससे तुझे क्या मिलेगा। कोठरी खोलकर रुपया निकाल ले--मुझे मत दे,

तू ले ले, मैं भी तेरे साथ रहूँगी, जहाँ तू ले चलेगा तेरे साथ चलूँगी। मैंने कहा——मुझ से यह नहीं होगा। मैं तुम्हें ले जाकर रखूँगा कहाँ? दूसरे तुम मेरे उस मालिक की स्त्री हो, जो मुझे अपने पुत्र के समान मानता था। मुझसे यह न होगा, कि तुम्हें अपनी स्त्री बना कर रखूँ।

बाबूजी, एक घण्टे तक उसने मुझे समझाया, रोई भी, हाथ भी जोड़े; परन्तु मैंने एक न मानी। आख़िर उसने अन्य उपाय न देख अपने देवर अर्थात् उन्हीं को बुलवाया, जिनका आना-जाना मैंने बन्द कराया था। उन्होंने आते ही बड़ा रुआब झाड़ा। मुझे पुलिस में देने की धमकी दी, पर मैं इससे भयभीत न हुआ। तब वह ताला तोड़ने पर आमादा हुए। मैं कोठरी के द्वार पर एक मोटा डंडा लकर बैठ गया और मैंने उनसे कह दिया कि जो कोई ताला तोड़ने आवेगा, पहले मैं उसका सिर तोड़ूँगा, इसके बाद जो होगा देखा जायगा। बस फिर उनका साहस न हुआ। इसी रगड़े-झगड़े मे रात के दो बज गये और शिवचरण लाल आ गये। मैंने उनको ताली दे दी और सब हाल बता दिया।

बाबूजी, जब कोठरी खोली गई, तो उसमें से साठ हज़ार रुपये नक़द निकले। इन रुपयों का हाल लाला के अतिरिक्त और किसी को भी मालूम न था। यदि मैं मालिकिन की बात मानकर बीस-पच्चीस हज़ार रुपये भी निकाल लेता, तो किसी को भी सन्देह न होता, पर मेरे मन में इस बात का विचार एक क्षण

के लिये भी पैदा न हुआ। मेरी माँ रोज़ रामायण पढ़कर मुझे सुनाया करती थीं, और मुझे यही समझाया करती थीं कि--बेटा, पाप और बेईमानी से सदा बचना, इससे तुझे कभी दुःख न होगा। उनकी यह बात मेरे जी में बसी हुई थी और इसी लिए मैं बच गया। उसके बाद शिवचरण लाल ने भी मुझे एक हज़ार रुपया दिया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि--तुम मेरे पास रहो; पर लाला के मरने से और जो अनुभव मुझे हुए थे; उनके कारण मैंने उनके यहाँ रहना उचित न समझा। लाला की तेरहवीं होने के बाद मैंने उनकी नौकरी छोड़ दी। छः हजार रुपये में से दो हज़ार मैंने अपनी बहन के ब्याह में खर्च किये और दो हजार अपने ब्याह में। एक हज़ार लगाकर एक दूकान की, और एक हज़ार बचा कर रक्खा; पर दूकान में फिर घाटा हुआ। तब मैंने मैनपुरी छोड़ दी और इधर चला आया। नौकरी करने की इच्छा नहीं थी, इसलिये मैंने इक्का-घोड़ा खरीद लिया और किराये पर चलाने लगा--तब से बराबर यही काम कर रहा हूँ। इसमें मुझे खाने भर को मिल जाता है। अपने आनन्द से रहता हूँ। न किसी के लेने में हूँ, न देने म। अब बताइये, यह बाबू कहते थे कि चार आने के पैसे के लिये मैं बेईमानी करता हूँ। अब मैं उनसे क्या कहता। यह तो दुनिया है, जो जिसकी समझ में आता है, कहता है। मैं भी सुन लेता हूँ। इक्के वाले बदनाम हैं; इसलिए मुझे भी ये बातें सुननी पड़ती हैं।

श्यामलाल की आत्म-कहानी सुनकर मैं कुछ देर तक स्तब्ध बैठा रहा। इसके पश्चात् मैंने कहा--भाई तुम तो दर्शनीय आदमी हो, तुम्हारे तो चरण छूने को जी चाहता है।

श्यामलाल हँस कर बोला--अजी बाबूजी क्यों काँटों में घसीटते हो। मेरे चरण आप छूएं--राम ! राम ! मैं कोई साधु थोड़ा ही हूँ।

मैंने कहा--और साधु कैसे होते हैं, उनके कोई सुर्खाब का पर तो लगा होता नहीं। सच्चे साधु तो तुम्हीं हो। यह सुन कर श्यामलाल हँसने लगा। इसी समय गंगापुर आ गया और हम लोग इक्के से उतरकर अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर चल दिये।

रास्ते में मैंने मनोहरलाल से कहा--इस संसार में अनेकों लाल गुदड़ी में छिपे पड़े हैं। उन्हें कोई जानता तक नहीं।

मनोहरलाल--जी हाँ ! और नामधारी ढोंगी महात्मा ईश्वर की तरह पूजे जाते हैं।

बात बहुत पुरानी हो गई है, पता नहीं महात्मा श्यामलाल अब भी जीवित हैं या नहीं, परन्तु अब भी जब कभी उनका स्मरण हो आता है, तो मैं उनकी काल्पनिक मूर्ति के चरणों में अपना मस्तक नत कर देता हूँ।

: चार :

हार की जीत

(सुदर्शन)

[१]

माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते और देख-देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था—रुपया, माल, असबाब, ज़मीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब गाँव से बाहर छोटे-से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते। परन्तु सुलतान के बिछुड़ने की वेदना उनके लिये असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी

भ्रांति सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस मोहमाया को देखकर चकित थे। कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे, परन्तु बाबा भारती को इसकी परवाह न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह इस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था, लोग उसका नाम सुनकर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची, उसका हृदय उसे देखने के लिये अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा--"खड्गसिंह क्या हाल है?" खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया--"आपकी दया है।"

"कहो इधर कैसे आ गये?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना, जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज उपस्थित हो गया हूँ।"

बाबा और खड्गसिंह दोनों अस्तबल में पहुँचे बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से, खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे, परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस को ऐसी चीज़ों से क्या मतलब ! कुछ देर तक खड्गसिंह आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् उसके हृदय में हलचल होने लगी। बालकों की सी अधीरता से बोला--

"परन्तु बाबाजी, इसकी चाल न देखी तो क्या देखा !"

(२)

बाबाजी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिये उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाये और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचककर सवार हो गए, घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर, खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया। वह डाकू था, और जो वस्तु पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहुबल था, और रुपया था, और आदमी थे। जाते-जाते बोला--"बाबा जी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा"

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रतिक्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास

बीत गए, वह न आया । यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गए और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे ।

संध्या का समय था । बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे । इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता । कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को और मन में फूले न समाते थे ।

सहसा एक आवाज़ आई—"ओ बाबा, इस कँगले की भी बात सुनते जाना ।"

आवाज़ में करुणा थी, बाबा ने घोड़े को थाम लिया । देखा, एक अपाहिज पड़ा कराह रहा है । बोले—"क्यों तुम्हें क्या कष्ट है ?"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—बाबा, मैं दुखिया हूँ । मुझ पर दया करो । रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है । घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा ।'

"वहाँ तुम्हारा कौन है ?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा । मैं उनका सौतेला भाई हूँ ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर किया और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे ।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई । उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि

अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा है और घोड़े को दौड़ाए लिए जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख़ निकल गई––यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"ज़रा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज़ सुनकर घोड़ा रोक लिया और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरकर कहा––"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा कसाई को देखता है, और कहा––"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा, परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ, केवल यह घोड़ा न दूँगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुम से इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रगट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रगट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा, परन्तु कुछ समझ न सका। हार कर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गाड़ दीं और पूछा--"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने उत्तर दिया--"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी ग़रीब पर विश्वास न करेंगे।"

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गए, परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे उच्च विचार हैं! कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे इसके बिना मैं न रह सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन-भक्ति के बदले रखवाली करते रहे। परन्तु आज उनके मुख पर चिन्ता की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख़्याल था कि कहीं लोग ग़रीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को

मनुष्यत्व की हानि पर न्यौछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं देवता है !

(३)

रात्रि के अन्धकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भौंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे। परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने हानि की ओर से बेपरवाह कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया और बाहर निकाल कर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठण्डे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार जैसे कोई स्वप्न चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई, साथ घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गए।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और ज़ोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिलकर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते थे--बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते थे और कहते थे--अब कोई ग़रीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था। दोनों के आँसुओं का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

:पाँच:

पूस की रात

(श्री प्रेमचन्द)

हल्कू ने आकर स्त्री से कहा--सहना आया है, लाओ, जो रुपये रखे हैं उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।

मुन्नी झाड़ू लगा रही थी। पीछे फिर कर बोली--तीन ही तो रुपये हैं, दे दोगे तो कम्बल कहाँ से आयेगा ? माघ-पूस की रात हार में कैसे कटेगी ? उससे कहदो, फ़सल पर रुपये दे देंगे। अभी नहीं हैं।

हल्कू एक क्षण अनिश्चित दशा में खड़ा रहा। पूस सिर पर आ गया, बिना कम्बल के हार में रात को वह किसी तरह नहीं सो सकता। मगर सहना मानेगा नहीं, घुड़कियाँ जमावेगा। गालियाँ देगा। बला से जाड़ों मरेंगे, बला तो सर से टल जायगी। यह सोचता हुआ वह अपना भारी भरकम डील लिये हुए (जो उसके नाम को झूठ सिद्ध करता था) स्त्री के समीप गया और खुशामद करके बोला--ला, दे दे, गला तो छूटे। कम्बल के लिए कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।

मुन्नी उसके पास से दूर हट गई और आँखें तेरती बोली--कर चुके दूसरा उपाय ! जरा सुनूँ कौन उपाय करोगे ? कोई खैरात दे देगा कम्बल। न जाने कितनी बाकी है जो किसी तरह

चुकने ही नहीं आती। मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते ? मर मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी। बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जन्म हुआ है। पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए। मैं रुपये न दूँगी,--न दूँगी।

हल्कू उदास होकर बोला--तो क्या गाली खाऊँ ?

मुन्नी ने तड़प कर कहा--गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है ?

मगर यह कहने के साथ ही उसकी तनी हुई भौहें ढीली पड़ गईं। हल्कू के उस वाक्य में जो कठोर सत्य था, वह मानों एक भीषण जन्तु की भाँति उसे घूर रहा था।

उसने जाकर आले पर से रुपये निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिए। फिर बोली--तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को तो मिलेगी। किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है ! मजूरी करके लाओ, वह भी उसी में झोंक दो, उस पर से धौंस।

हल्कू ने रुपये लिये और इस तरह बाहर चला, मानो अपना हृदय निकालकर देने जा रहा हो। उसने मजूरी से काट-काट कर तीन रुपये कम्बल के लिए जमा किये थे। वह आज निकले जा रहे थे। एक एक पग के साथ उसका मस्तक अपनी दीनता के भार से दबा जा रहा था।

२

पूस की अँधेरी रात ! आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए

मालूम होते थे। हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बाँस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े पड़ा काँप रहा था। खाट के नीचे उसका संगी कुत्ता जबरा पेट में मुँह डाले सर्दी से कूँ-कूँ कर रहा था। दो में से एक को भी नींद न आती थी।

हल्कू ने घुटनियों को गर्दन में चिपटाते हुए कहा--क्यों जबरा जाड़ा लगता है ? कहता तो था, घर में पुआल पर लेटा रह, तो यहाँ क्या लेने आया था ? अब खाओ ठण्ड, मैं क्या करूँ। जानते थे, मैं यहाँ हलुवा पूरी खाने आ रहा हूँ, दौड़े-दौड़े आगे-आगे चले आए। अब रोओ नानी के नाम को।

जबरे ने पड़े-पड़े दुम हिलाई और अपनी वह कूँ-कूँ को दीर्घ बनाता हुआ एक बार जम्हाई लेकर चुप हो गया। उसकी श्वान-बुद्धि ने शायद ताड़ लिया, स्वामी को मेरी कूँ-कूँ से नींद नहीं आ रही है।

हल्कू ने हाथ निकाल कर जबरा की ठंडी पीठ सहलाते हुए कहा--कल से मत आना मेरे साथ, नहीं तो ठंडे हो जाओगे। यह राँड पछुआ न जाने कहाँ से बरफ लिए आ रही है। उठूँ, फिर एक चिलम भरूँ। किसी तरह रात तो कटे। आठ चिलम तो पी चुका। यह खेती का मजा है। और एक भागवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा तो गर्मी से घबड़ा कर भागे। मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ, कम्बल, मजाल है जो जाड़े

का गुजर हो जाय। तक़दीर की खूबी है। मजूरी हम करें मज़ा दूसरे लूटें !

हल्कू उठा और गड्डे में से ज़रा-सी आग निकाल कर चिलम भरी। जबरा भी उठ बैठा।

हल्कू ने चिलम पीते हुए कहा--पियेगा चिलम ? जाड़ा तो क्या जाता है, हाँ ज़रा मन बहल जाता है।

जबरा ने उसके मुँह की ओर प्रेम से छलकती हुई आँखों से देखा।

हल्कू--आज और जाड़ा खा ले। कल से मैं यहाँ पुआल बिछा दूँगा। उसी में घुस कर बैठना, तब जाड़ा न लगेगा।

जबरा ने अगले पंजे उसके घुटने पर रख दिये और उसके मुँह के पास अपना मुँह ले गया। हल्कू को उसकी गर्म साँस लगी।

चिलम पीकर हल्कू फिर लेटा और निश्चय करके लेटा कि चाहे कुछ हो अबकी सो जाऊँगा, पर एक ही क्षण में उसके हृदय में कंपन होने लगा। कभी इस करवट लेटता, कभी उस करवट, पर जाड़ा किसी पिशाच की भाँति उसकी छाती को दबाए हुए था।

जब किसी तरह न रहा गया, तो उसने जबरा को धीरे से उठाया और उसके सिर को थपथपा कर उसे अपनी गोद में सुला लिया। कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गन्ध आ रही

थी, पर वह उसे अपनी गोद से चिपटाये हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था, जो इधर महीने से उसे न मिला था। जबरा शायद यह समझ रहा था कि स्वर्ग यही है, हल्कू की पवित्र आत्मा में तो उस कुत्ते के प्रति घृणा की गन्ध तक न थी; अपने किसी अभिन्न मित्र या भाई को भी वह इतनी ही तत्परता से गले लगता। वह अपनी दीनता से आहत न था जिसने आज उसे इस दशा को पहुँचा दिया था। नहीं इस अनोखी मैत्री ने जैसे उसकी आत्मा के सब द्वार खोल दिये थे, और उसका एक एक अणु प्रकाश से चमक रहा था।

सहसा जबरा ने किसी जानवर की आहट पाई। इस विशेष आत्मीयता ने उसमें एक नयी स्फूर्ति पैदा कर दी थी जो हवा के ठण्डे झोंकों को तुच्छ समझती थी। वह झपट कर उठा और छतरी के बाहर आकर भूँकने लगा। हल्कू ने उसे कई बार चुमकार कर बुलाया, पर वह उसके पास न आया। हार में चारों तरफ दौड़-दौड़ कर भूँकता रहा। एक क्षण के लिए आ भी जाता, तो तुरन्त फिर दौड़ता। कर्तव्य उसके हृदय में अरमान की भाँति उछल रहा था।

३

एक घण्टा और गुज़र गया। रात ने शीत को हवा से धधकाना शुरू किया। हल्कू उठ बैठा और उसने दोनों घुटनों को छाती से मिला कर सिर को उसमें छिपा लिया। फिर भी ठंड कम न हुई। ऐसा जान पड़ता था, सारा रक्त जम गया

है, धमनियों में रक्त की जगह हिम बह रहा है। उसने झुककर आकाश की ओर देखा, अभी कितनी रात बाकी है? सप्तर्षि आकाश में अभी आधे भी नहीं चढ़े। ऊपर आ जायेंगे तब कहीं सवेरा होगा। अभी पहर भर से ऊपर रात है।

हल्कू के खेत से कोई एक गोली के टप्पे पर आमों का एक बाग़ था। पतझड़ शुरू हो गई थी। बाग़ में पत्तियों का ढेर लगा हुआ था। हल्कू ने सोचा, चलकर पत्तियाँ बटोरूँ और उन्हें जलाकर खूब तापूँ। रात को कोई मुझे पत्तियाँ बटोरते देखे, तो समझे कोई भूत है। कौन जाने कोई जानवर ही छिपा बैठा हो, मगर अब तो बैठे नहीं रहा जाता।

उसने पास के अरहर के खेत में जाकर कई पौदे उखाड़ लिए और उनका एक झाड़ू बनाकर हाथ में सुलगता हुआ उपला लिये बग़ीचे की तरफ़ चला। जबरा ने उसे जाते देखा, तो पास आया और दुम हिलाने लगा।

हल्कू ने कहा—अब तो नहीं रहा जाता जबरू, चलो बगीचे में पत्तियाँ बटोर कर तापें। टाँठे हो जायेंगे, तो फिर आकर सोयेंगे। अभी तो रात बहुत है।

जबरा ने कूँ कूँ करके सहमति प्रकट की और आगे-आगे बगीचे की ओर चला। बगीचे में घुप-अंधेरा छाया हुआ था और उस अंधकार में निर्दय पवन पत्तियों को कुचलता हुआ चला जाता था। वृक्षों से ओस की बूँदें टप-टप नीचे टपक रही थीं।

एकाएक एक झोंका मेंहदी के फूलों की खुशबू लिये हुए आया ।

हल्कू ने कहा--कैसी अच्छी महक आई जबरू, तुम्हारी नाक में भी कुछ सुगन्ध आ रही है ?

जबरा को कहीं ज़मीन पर एक हड्डी पड़ी मिल गई थी। वह उसे चिचोड़ रहा था। हल्कू ने आग ज़मीन पर रख दी और पत्तियाँ बटोरने लगा। ज़रा देर में पत्तियों का एक ढेर लग गया। हाथ ठिठुरे जाते थे। नंगे पांव गले जाते थे और वह पत्तियों का पहाड़ खड़ा कर रहा था। इसी अलाव में वह ठण्ड को जलाकर भस्म कर देगा।

थोड़ी देर में अलाव जल उठा। उसकी लौ ऊपर वाले वृक्ष की पत्तियों को छू-छू कर भागने लगी। उस अस्थिर प्रकाश में बगीचे के विशाल वृक्ष ऐसे मालूम होते थे, मानो उस अथाह अंधकार को अपने सिरों पर संभाले हुए हों। अन्धकार के उस अनन्त सागर में यह प्रकाश एक नौका के समान हिलता, मचलता हुआ जान पड़ता था।

हल्कू अलाव के सामने बैठा आग ताप रहा था। एक क्षण में उसने दोहर उतार कर बग़ल में दबा ली, और दोनों पाँव फैला लिए। मानो ठंड को ललकार रहा हो, 'तेरे जी में जो आये सो कर।' ठंड की असीम शक्ति पर विजय पाकर वह विजय-गर्व को हृदय में छिपा न सकता था।

उसने जबरा से कहा—क्यों जब्बर, अब तो ठंड नहीं लग रही है ?

जब्बर ने कूँ कूँ करके मानो कहा—अब क्या ठंड लगती ही रहेगी !

'पहले से यह उपाय न सूझा, नहीं तो इतनी ठंड क्यों खाते ?'

जब्बर ने पूँछ हिलाई।

"अच्छा आओ, इस अलाव को कूद कर पार करें, देखें कौन निकल जाता है ? अगर जल गये बच्चा, तो मैं दवा न करूँगा।"

जब्बर ने उस अग्नि-राशि की ओर कातर नेत्रों से देखा।

"मुन्नी से कल न कह देना, नहीं लड़ाई करेगी।"

यह कहता हुआ वह उछला और उस अलाव के ऊपर से साफ़ निकल गया। पैरों में ज़रा लपट लगी, पर वह कोई बात न थी। जबरा आग के गिर्द घूमकर उसके पास आ खड़ा हुआ।

हल्कू ने कहा—चलो चलो, इसकी सही नहीं, ऊपर से कूदकर आओ।

वह फिर कूदा और अलाव के इस पार आ गया।

४

पत्तियाँ जल चुकी थीं। बगीचे में फिर अंधेरा छाया था। राख के नीचे कुछ कुछ आग बाकी थी, जो हवा का झोंका आ जानेपर ज़रा आग उठती थी, पर एक क्षण में फिर आँखें बन्द कर लेती थी।

हल्कू ने फिर चादर ओढ़ ली और गर्म राख के पास बैठा हुआ एक गीत गनगुनाने लगा। उसके बदन में गर्मी आ

गई थी; पर ज्यों-ज्यों शीत बढ़ती जाती थी, उसे आलस्य दबाये लेता था।

जबरा ज़ोर से भूँककर खेत की ओर भागा। हल्कू को ऐसा मालूम हो रहा था कि जानवरों का एक झुण्ड उसके खेत में आया है। शायद नील गायों का झुण्ड था। उनके कूदने और दौड़ने की आवाज़ साफ़ कान में आ रही थीं। फिर ऐसा मालूम हुआ कि वे खेत में चर रही हैं। उनके चबाने की आवाज़ चर-चर सुनाई देने लगी।

उसने दिल में कहा—नहीं, जबरा के होते कोई जानवर खेत में नहीं आ सकता। नोच ही डाले। मुझे भ्रम हो रहा है। कहाँ अब तो कुछ सुनाई नहीं देता। मुझे भी कैसा धोखा हुआ है।

उसने ज़ोर से आवाज़ लगाई—जबरा, जबरा!

जबरा भूँकता रहा। उसके पास न आया।

फिर खेत के चरे जाने की आवाज़ सुनाई दी। अब वह अपने को धोखा न दे सका। उसे अपनी जगह से हिलना ज़हर लग रहा था। कैसा दंदाया हुआ बैठा था। ऐसे जाड़े-पाले में खेत में जाना, जानवरों के पीछे दौड़ना असूझ जान पड़ा। वह अपनी जगह से न हिला।

उसने ज़ोर से आवाज़ लगाई—लिहो लिहो! लिहो!!

जबरा फिर भूँक उठा। जानवर खेत चर रहे थे। फ़सल तैयार है। कैसी अच्छी फ़सल है, पर ये दुष्ट जानवर उसका सर्वनाश किये डालते हैं।

हल्कू पक्का इरादा करके उठा और दो-तीन कदम चला; पर एकाएक हवा का ऐसा ठण्डा चुभने वाला, बिच्छू के डंक-सा झोंका लगा कि वह फिर बुझते हुए अलाव के पास आ बैठा और राख को कुरेद कर अपनी ठण्डी देह को गर्माने लगा।

जबरा अपना गला फाड़े डालता था। नील गाएँ खेत का सफाया किये डालती थीं और हल्कू गर्म राख के पास शांत बैठा हुआ था। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भांति उसे चारों ओर से जकड़ रखा था।

उसी राख के पास गर्म ज़मीन पर वह चादर ओढ़कर सो गया।

सवेरे जब उसकी नींद खुली तब चारों तरफ धूप फैल गई थी और मुन्नी कह रही थी—आज क्या सोते ही रहोगे? तुम यहाँ आकर रम गए और उधर सारा खेत चौपट हो गया।

हल्कू ने उठकर कहा—क्या तू खेत से होकर आ रही है?

मुन्नी बोली—हाँ सारे खेत का सत्यानाश हो गया। भला ऐसा भी कोई सोता है? तुम्हारे यहाँ मडैया डालने से क्या हुआ?

हल्कू ने बहाना किया—मैं मरते-मरते बचा, तुझे अपने खेत की पड़ी है। पेट में ऐसा दर्द हुआ कि मैं ही जानता हूँ।

दोनों फिर खेत के डाँड पर आये। देखा, सारा खेत रौंदा हुआ पड़ा है और जबरा मडैया के नीचे चित लेटा है, मानो प्राण ही न हों।

दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी थी पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिन्तित होकर कहा--अब मजूरी करके मालगुज़ारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा--रात की ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।

: छः :

देवदासी

(ले० श्री जयशंकर 'प्रसाद')

'   '

......
१-३-२५

प्रिय रमेश !

परदेश में किसी अपने से घर लौट आने का अनुरोध बड़ी सान्त्वना देता है, परन्तु अब तुम्हारा मुझे बुलाना एक अभिनय-सा है। हाँ, मैं कटूक्ति करता हूँ, जानते हो क्यों ? मैं झगड़ना चाहता हूँ; क्योंकि संसार में अब मेरा कोई नहीं है, मैं उपेक्षित हूँ। सहसा अपने का सा स्वर सुनकर मन में क्षोभ होता है। अब मेरा घर लौट कर आना अनिश्चित है। मैंने '......' के हिन्दी-प्रचार-कार्यालय में नौकरी कर ली है। तुम तो जानते ही हो कि मेरे लिए प्रयाग और '......' बराबर है। अब अशोक विदेश में भूखा न रहेगा। मैं पुस्तक बेचता हूँ।

यह तुम्हारा लिखना ठीक है कि एक आने का टिकट लगाकर पत्र भेजना मुझे अखरता है, पर तुम्हारे गाल यदि मेरे समीप होते तो उन पर पाँचों नहीं तो मेरी तीन उँगलियाँ अपना

चिह्न अवश्य बना ही देतीं। तुम्हारा इतना साहस ! मुझे लिखते हो कि बेयरिङ्ग पत्र भेज दिया करो ! ये सब गुण मुझमें होते तो मैं भी तुम्हारी तरह......प्रेस के प्रूफ़-रीडर का काम करता होता। सावधान ! अब कभी ऐसा लिखोगे तो मैं उत्तर भी न दूँगा।

लल्लू को मेरी ओर से प्यार कर लेना, उससे कह देना कि पेट से बचा सकूँगा, तो एक रेलगाड़ी भेजूँगा।

यद्यपि अपनी यात्रा का समाचार बराबर लिखकर मैं तुम्हारा मनोरञ्जन न कर सकूँगा, तो भी सुन लो '......' में एक बड़ा पर्व है, वहाँ '......' का देव-मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। तुम तो जानते होगे कि दक्षिण में कैसे-कैसे दर्शनीय देवालय हैं, उनमें भी यह प्रधान है। मैं वहाँ कार्यालय की पुस्तकें बेचने के लिए जा रहा हूँ।

तुम्हारा,
--अशोक

पुनश्च:--

मुझे विश्वास है कि मेरा पता जानने के लिए कोई उत्सुक न होगा। फिर भी सावधान ! किसी पर प्रकट न करना।

× × ×

(२)

'......'
१०-३-२५

प्रिय रमेश !

रहा नहीं गया, लो सुनो ! मन्दिर देखकर हृदय प्रसन्न हो

गया। ऊँचा गोपुरम्, सुदृढ़ प्राचीर, चौड़ी परिक्रमाएँ और विशाल सभा-मण्डप, भारतीय स्थापत्य कला के चूड़ान्त निदर्शन हैं। यह देव-मन्दिर हृदय पर गम्भीर प्रभाव डालता है। हम जानते हैं कि तुम्हारे मन में यहाँ के पण्डों के लिए प्रश्न होगा। फिर भी उत्तरीय भारत से वे बुरे नहीं हैं। पूजा और आरती के समय एक प्रभावशाली वातावरण हृदय को भारावनत कर देता है।

मैं कभी-कभी एकटक देखता हूँ। उन मन्दिरों को ही नहीं, किन्तु उस प्राचीन भारतीय संस्कृति को, जो सर्वोच्च शक्ति को अपनी महत्ता, सौंदर्य और ऐश्वर्य के द्वारा व्यक्त करना जानती थी। तुमसे कहूँगा कि कभी रुपए जुटा सको तो एक बार दक्षिण के मन्दिरों को अवश्य देखना। देव-दर्शन की कला यहाँ देखने में आती है। एक बात और है, मैं अभी बहुत दिनों तक यहाँ रहूँगा। मैं यहाँ की भाषा भली-भांति बोल लेता हूँ। मुझे परि-क्रमा के भीतर ही एक कोठरी संयोग से मिल गई है। पास में ही एक कुआँ भी है! मुझे प्रसाद भी मन्दिर से ही मिलता है। मैं बड़े चैन से हूँ। यहाँ पुस्तकें बेच भी लेता हूँ। सुन्दर चित्रों के लिए पुस्तकों की अच्छी बिक्री हो जाती है। गोपुरम् के पास ही मैं दूकान फैला देता हूँ। और महिलाएँ मुझसे पुस्तकों का विवरण पूछती हैं। मुझे समझाने में बड़ा आनन्द आता है। पास ही बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्य हैं। नदी, पहाड़ और जङ्गल—सभी तो हैं। मैं कभी-कभी घूमने भी चला जाता हूँ। परन्तु उत्तरीय भारत के समान यहाँ के देव-विग्रहों के समीप हम लोग

नहीं जा सकते । दूर से ही दीपालोक में उस अचल मूर्ति की झाँकी हो जाती है । यहाँ मन्दिरों में सङ्गीत और नृत्य का भी आनन्द रहता है । बड़ी चहल-पहल है । आजकल तो यात्रियों के कारण और भी सुन्दर-सुन्दर प्रदर्शन होते हैं ।

तुम जानते हो कि मैं अपना पत्र इतना सविस्तार क्यों लिख रहा हूं ? तुम्हारे कृपण और संकुचित हृदय में उत्कण्ठा बढ़ाने के लिए । मुझे इतना ही सुख सही ।

तुम्हारा,

—अशोक

× × ×

(३)

'........'

१७–३–२५

प्रिय रमेश !

समय को उलाहना देने की प्राचीन प्रथा को मैं अच्छी नहीं समझता । इसलिए जब वह शुष्क मांस-पेशी अलग दिखलाने वाला, चौड़ी हड्डियों का अपना शरीर लठिया के बल पर टेकता हुआ, चिदम्बरम् नाम का पण्डा मेरे समीप बैठकर, अपनी भाषा में उपदेश देने लगता है, तो मैं घबरा जाता हूँ । वह समय का एक दुर्दृश्य चित्र खींचकर, अभाव और आपदाओं का उल्लेख करके विभीषिका उत्पन्न करता है। मैं उनसे मुक्त हूँ । भोजन-मात्र के लिए अर्जन करके सन्तुष्ट घूमता हूँ—सोता हूँ।

मुझे समय की क्या चिन्ता ? पर मैं यह जानता हूँ कि वही मेरा सहायक है--मित्र है। इतनी आत्मीयता दिखलाता है कि मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अहा ! एक बात तो लिखना मैं भूल ही गया था। उसे अवश्य लिखूँगा, क्योंकि तुम्हारे सुने बिना मेरा सुख अधूरा रहेगा। मेरे सुख को मैं ही जानूँ, तब उसमें धरा ही क्या है, जब तुम्हें उसकी डाह न हो तो सुनोः--

सभा-मण्डप के शिल्प-रचनापूर्ण स्तम्भ से टिकी हुई एक उज्ज्वल श्याम-वर्ण की बालिका को अपनी पतली बाहु-लता से एक घुटने को छाती से लगाए प्रायः बैठी हुई देखता हूँ। स्वर्ण-मल्लिका की माला उसके जूड़े से लगी रहती है। प्राय वह कुसुमाभरण-भूषिता रहती है। उसे देखने का मुझे चस्का लग गया है। वह मुझसे हिन्दी सीखना चाहती है। मैं तुम से पूछता हूँ कि उसे पढ़ाना आरम्भ कर दूँ ? उसका नाम है पद्मा, चिदम्बरम् और पद्मा से खूब पटती है। वह हिरनी की तरह झिझकती भी है। पर न जाने क्यों मेरे पास आ बैठती है, मेरी पुस्तकें उलट-पलट देती है। मेरी बातें सुनते-सुनते वह ऐसी हो जाती है, जैसे कोई आलाप ले रही हो, और मैं प्रायः आधी बात कहते-कहते रुक जाता हूँ, जैसे कोई संगीत सुन रहा हूँ। इसका अनुभव मुझे तब होता है, जब मेरे दृष्टि-पथ से वह हट जाती है। उसे देखकर मेरे हृदय में कविता करने की इच्छा होती है, यह क्यों ? मेरे हृदय का सोता हुआ सौंदर्य जाग उठता है।

तुम मुझे नीच समझोगे और कहोगे कि अभागे अशोक के दरिद्र-हृदय की स्पर्द्धा तो देखो ! पर मैं सच कहता हूँ, उसे देखने पर मैं अनन्त ऐश्वर्यशाली हो जाता हूँ ।

हाँ, वह मन्दिर में नाचती और गाती है । और भी बहुत-सी हैं, पर मैं कहूँगा, वैसी एक भी नहीं । जो लोग उसे देवदासी पद्मा कहते हैं, वे अधम हैं । वह देवबाला पद्मा है ।

वही,

——अशोक

× × ×

(४)

'.........'

२८–३–२५

प्रिय रमेश !

तुम्हारा उलहना निस्सार है । मैं इस समय केवल पद्मा को समझ सकता हूँ । फिर अपने या तुम्हारे कुशल-मंगल की चर्चा क्यों करूँ ? तुम उसका रूप-सौन्दर्य पूछते हो । मैं उसका विवरण देने में असमर्थ हूँ । हृदय में उपमाएँ नाचकर चली जाती हैं, ठहरने नहीं पातीं कि मैं उन्हें लिपिबद्ध करूँ । वह एक ज्योति है, जो अपनी महत्ता और आलोक में अपना अवयव छिपाए रखती है, केवल तरल, नील, शुभ्र और करुण आँखें मेरी आँखों से मिल जाती हैं । मेरी आँखों में श्यामा कादम्बिनी की शीतलता छा जाती है, और संसार के अत्याचारों से

निराश इस झझरीदार कलेजे के वातायन से वह स्निग्ध मलयानिल के झोंके की तरह घुस आती है। एक दिन की घटना लिखे बिना नहीं रहा जाता।

मैं अपनी पुस्तकों की दूकान फैलाए बैठा था! गोपुरम् के समीप ही यह कहीं से झपटी हुई चली आती थी। दूसरी ओर से एक युवक उसके सामने आ खड़ा हुआ। वह युवक मन्दिर का कृपा-भाजन एक धनी दर्शनार्थी था। यह बात उसके कानों के चमकते हुए हीरे के टैप से प्रकट थी। वह बेरोक-टोक मन्दिर में चाहे जहाँ आता जाता है। मन्दिर में उससे लोगों को प्रायः कुछ मिलता है। सब उसका सम्मान करते हैं। उसे सामने देख कर पद्मा को खड़ी होना पड़ा। उसने बड़ी नीच मुखाकृति से कुछ बातें कहीं, पद्मा कुछ न बोली। फिर उसने स्पष्ट शब्दों में रात्रि को अपने मिलने का स्थान निर्देश किया। पद्मा ने कहा--'मैं नहीं आ सकूँगी'। वह लाल-पीला होकर बकने लगा। मेरे मन में क्रोध का धक्का लगा। मैं उठकर चला आया। वह मुझे देखकर हटा तो, पर कहता गया कि 'अच्छा देख लूँगा।'

उस नील कमल से मकरन्द-बिन्दु टपक रहे थे। मेरी इच्छा हुई कि वे मोती बटोर लूँ। पहली बार मैंने उन कपोलों पर हाथ लगाकर उन्हें लेना चाहा। आह! उन्होंने वर्षा कर दी। मैंने पूछा--उससे तुम इतनी भयभीत क्यों हो?

"मन्दिर में दर्शन करने वालों का मनोरंजन करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं देवदासी हूँ।"--उसने कहा।

"यह तो बड़ा अत्याचार है। तुम क्यों यहाँ रह कर अपने को अपमानित करती हो।" मैंने कहा।

"कहाँ जाऊँ, मैं देवता के लिए उत्सर्ग कर दी गई हूँ।"––उसने कहा।

"नहीं-नहीं, देवता तो क्या, राक्षस भी मानव स्वभाव की बलि नहीं लेता, वह तो रक्त-माँस से ही सन्तुष्ट हो जाता है। तुम अपनी आत्मा और अन्तःकरण की बलि क्यों करती हो?" मैंने कहा।

"ऐसा न कहो, पाप होगा; देवता रुष्ट होंगे"––उसने कहा।

"पापों को देवता खोजें, मनुष्य के पास कुछ पुण्य भी है पद्मा! तुम उसे क्यों नहीं खोजती हो? पापों का न करना ही पुण्य नहीं? तुम अपनी आत्मा की अधिकारिणी हो, अपने हृदय की तथा शरीर की सम्पूर्ण स्वामिनी हो, मत डरो। मैं कहता हूँ कि इससे देवता प्रसन्न होंगे। आशीर्वादों की वर्षा होगी।" मैंने एक साँस में कहकर देखा कि उसके मस्तक में उज्ज्वलता आ गई है। वह एक स्फूर्ति का अनुभव करने लगी है। उसने कहा––अच्छा, तो फिर मिलूँगी।

वह चली गई। मैंने देखा कि बूढ़ा चिदम्बरम् मेरे पीछे खड़ा मुस्करा रहा है। मुझे क्रोध भी आया, पर कुछ न बोल कर, मैंने पुस्तक बटोरना आरम्भ किया।

तुम कुछ अपनी सम्मति दोगे?

––अशोक

× × ×

(५)

' '

....

१-४-२५

रमेश !

कल संगीत हो रहा था ! मन्दिर आलोक-माला से सुसज्जित था । नृत्य करती हुई पद्मा गा रही थी:—

"नामसमेतं वृत संकेतं वादयते मृदु वेणु"......ओह ! वे संकेत मदिरा की लहरें थी । मैं उसमें उभचुभ होने लगा। उस की कुसुम-आभूषण से भूषित अङ्ग-लता के सञ्चालन से वायुमंडल सौरभ से भर जाता था। वह विवश थी, जैसे कुसुमिता लता तीव्र पवन के झोंके से। रागों के स्वर का स्पन्दन उसके अभिनय में था। लोग उसे विस्मय-विमुग्ध देखते थे। पर न जाने क्यों मेरे मन में उद्वेग हुआ, मैं जाकर अपनी कोठरी में पड़ रहा। आज कार्यालय से लौट आने के लिए पत्र आया था। उसी को विचारता हुआ कब तक आँखें बन्द किए पड़ा रहा, मुझे विदित नहीं। सहसा साँय-साँय, फस-फस का शब्द सुनाई पड़ा, मैं ध्यान लगाकर सुनने लगा।

ध्यान देने पर मैं जान गया कि दो व्यक्ति बातें कर रहे थे—चिदम्बरम् और रामस्वामी नाम का वही धनी युवक। मैं मनोयोग से सुनने लगा।

चिदम्बरम्—तुमने आज तक उसकी इच्छा के विरुद्ध बड़े

अत्याचार किए हैं, अब जब वह नहीं चाहती तो तुम उसे क्यों सताते हो ?

रामस्वामी --सुनो चिदम्बरम्, सुन्दरियों की कमी नहीं, पर न जाने क्यों मेरा हृदय उसे छोड़कर दूसरी ओर नहीं जाता । वह इतनी निरीह है कि उसे मसलने में आनन्द आता है । एक बार उससे कह दो कि मेरी बातें सुन ले, फिर जो चाहे, करे ।

चिदम्बरम् चला गया और बातें बन्द हुईं । और सच कहता हूँ, मन्दिर से मेरा मन प्रतिकूल होने लगा । पैरों के शब्द हुए, वही जैसे रोती हुई बोली--'रामस्वामी, मुझ पर दया न करोगे ?' ओह ! कितनी वेदना थी उसके शब्दों में। परन्तु रामस्वामी के हृदय में तीव्र ज्वाला जल रही थी । उसके वाक्यों में लू जैसी झुलसती थी । उसने कहा--पद्मा ! यदि तुम मेरे हृदय की ज्वाला समझ सकतीं तो तुम ऐसा न कहतीं । मेरे हृदय की तुम अधिष्ठात्री हो, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता । चलो, मैं देवता का कोप सहने के लिये प्रस्तुत हूँ, मैं तुम्हें लेकर कहीं चला चलूँगा ।

"देवता का निर्माल्य तुमने दूषित कर दिया है, पहले इसका तो प्रायश्चित्त करो । मुझे केवल देवता के चरणों में मुरझाए हुए फूल के समान गिर जाने दो । रामस्वामी, ऐसा स्मरण होता है कि मैं भी तुम्हें चाहने लगी थी । उस समय मेरे मन में यह विश्वास था कि देवता यदि पत्थर के न होंगे तो समझेंगे कि यह मेरे माँसल यौवन और रक्तपूर्ण हृदय की साधारण

आवश्यकता है । मुझे क्षमा कर देंगे, परन्तु मैं यदि वैसा पुण्य परिणय कर सकती ! आह ! तुम इस तपस्वी की कुटी के समान हृदय में इतना सौंदर्य लेकर क्यों अतिथि हुए ? रामस्वामी, तुम मेरे दुःखों के मेघ में वज्रपात थे !"

पद्मा रो रही थी ! सन्नाटा हो गया । सहसा जाते-जाते रामस्वामी ने कहा--'मैं तुम्हारे विना नहीं रह सकता ।' रमेश ! मैं भी पद्मा के बिना नहीं रह सकता । मैंने भी कार्यालय में त्याग-पत्र भेज दिया है । भूखों मरूँगा पर उपाय क्या है ?

--अभागा अशोक

× × ×

(६)

२-४-२५

रमेश !

मैं बड़ा विचलित हो रहा हूँ। एक कराल छाया मेरे जीवन पर पड़ रही है ! अदृष्ट मुझे अज्ञात-पथ पर खींच रहा है, परन्तु तुमको लिखे बिना रह नहीं सकता ।

मधुमास, ज़ंगली फूलों की भीनी-भीनी महक सरिता के कूल की शैल-माला को आलिङ्गन दे रही थी। मक्खियों की भन्नाहट का कल-नाद गुञ्जरित हो रहा था । नवीन पल्लवों के कोमल स्पर्श से वनस्थली पुलकित थी । मैं जंगली जर्द चमेली के अकृ-

त्रिम कुंज के अन्तराल में बैठा, नीचे बहती हुई नदी के जल के साथ बसन्त की धूप का खेल देख रहा था। हृदय में आशा थी! अहा! वह अपने तुहिन-जाल से रत्नाकर के सब रत्नों को, आकाश के सब मुक्ताओं को निकाल, खींचकर मेरे चरणों में उलझा देती थी। प्रभात की पीली किरणों से हेम-गिरि को घसीट ले आती थी; और ले आती थी पद्ममा की मौन प्रणयस्वीकृति। मैं भी आज वन-यात्रा के उत्सव में देवता के भोग-विग्रह के साथ इस वनस्थली में आया था। बहुत से नागरिक भी आए थे। देव-विग्रह विशाल वट वृक्ष के नीचे स्थित हुआ और यात्री-दल इधर-उधर नदी-तट की नीची शैल-माला, कुंजों गह्वरों और घाटियों की हरियाली में छिप गया। लोग आमोद-प्रमोद, पानभोजन में लग गए। हरियाली के भीतर से कहीं पिकलू, कहीं कॉरेनेट और देवदासियों के कोकिल-कंठ का सुन्दर स्वर निकलने लगा। वह कानन नन्दन हो रहा था और मैं उसमें विचरने वाला एक देवता। क्यों? मेरा विश्वास था कि देवबाला पद्मा यहाँ है। वह भी देव-विग्रह के आगे-आगे नृत्य-गायन करती हुई आई थी।

मैं सोचने लगा—'अहा! वह समय भी आएगा, जब मैं पद्मा के साथ एकान्त में इस कानन में विचरूँगा। वह पवित्र, वह मेरे जीवन का महत्तम योग कब आएगा?' आशा ने कहा, 'बस आया ही समझो।' मैं मस्त हो कर बंसी बजाने लगा। आज मेरी बाँस की बाँसुरी में बड़ा उन्माद था। बंसी नहीं, मेरा हृदय

बज रहा था। चिदम्बरम् आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। वह मनुष्य था। उसने कभी मेरी बाँसुरी नहीं सुनी थी। जब मैंने अपनी आसावरी बन्द की, वह बोल उठा--'अशोक, तुम एक कुशल कलावन्त हो।' कहना न होगा कि वह देवदासियों का संगीत-शिक्षक भी था। वह चला गया और थोड़ी ही देर में पद्मा को साथ लिये आया। उसके हाथों में भोजन का सामान भी था। पद्मा को उसने उत्तेजित कर दिया था। वह आते ही बोली--'मुझे भी सुनाओ।' जैसे मैं स्वप्न देखने लगा। पद्मा और मुझ से अनुनय करे! मैंने कहा--'बैठ जाओ।' और जब वह कुसुम-कंकण-मण्डित करों पर कपोल रखकर मल्लिका की छाया में आ बैठी तो मैं बजाने लगा। रमेश, मैंने बंसी नहीं बजाई। सच कहता हूँ, मैं अपनी वेदना स्वासों से निकाल रहा था। इतनी करुण, इतनी स्निग्ध तानें ले-लेकर मैं उसमें स्वयं पागल हो जाता था। मेरी आंखों में मद-विकार था, मुझे उस समय अपनी पलकें बोझल मालूम होती थीं।

बाँसुरी रखने पर भी उसकी प्रतिध्वनि का सोहाग वन-लक्ष्मी के चारों और घूम रहा था। पद्मा ने कहा—'सुन्दर! तुम सचमुच अशोक हो।' वन-लक्ष्मी पद्मा अचल थी। मुझे एक कविता सूझी। मैंने कहा--'पद्मा! मैं कठोर पृथ्वी का अशोक, तुम तरल जल की पद्मा। भला अशोक, के राग-रक्त के नव-पल्लवों में पद्मा का विकास कैसे होगा?'

बहुत दिनों बाद पद्मा हँस पड़ी। उसने कहा--'अशोक,

तुम लोगों से वचन चातुरी सीखूँगी । कुछ खा लो ।' वह देती गई, मैं खाता गया । जब हम स्वस्थ होकर बैठे तो देखा, चिदम्बरम् चला आता है । पद्मा सिर नीचे किये अपने नखों को खुरच रही है । हम लोग सबसे ऊँचे कगारे पर थे । नदी की ओर ढालुआँ पहाड़ी करारा था । मेरे सामने संसार एक हरियाली था । सहसा रामस्वामी ने आकर कहा--'पद्मा ! आज मुझे मालूम हुआ कि तुम इस उत्तरी दरिद्र पर मरती हो ।' पद्मा ने छलछलाई आँखों से उसकी ओर देखकर कहा-- 'रामस्वामी ! तुम्हारे अत्याचारों का कहीं अन्त है ?'

'सो नहीं हो सकता । उठो, अभी मेरे साथ चलो ।'

'ओह ! नहीं, तुम क्या मेरी हत्या करोगे ? मुझे भय लगता है ।'

'मैं कुछ नहीं करूँगा । चलो मैं इसके साथ तुम्हें नही देख सकता ।' कहकर उसने पद्मा का हाथ पकड़कर घसीटा । वह कातर दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी । उस दृष्टि में जीवन भर के किये गए अत्याचारों का विवरण था । उन्मत्त पिशाच-सदृश बल से मैंने रामस्वामी को धक्का दिया और मैंने हतबुद्धि होकर देखा, वह तीन सौ फीट नीचे चूर होता हुआ नदी के स्रोत में जा गिरा, यद्यपि मेरी वैसी इच्छा न थी । पद्मा ने मेरी ओर भयपूर्ण नेत्रों से देखा और मैं अवाक् ! उसी समय चिदम्बरम् ने जाकर मेरा हाथ पकड़ लिया । पद्मा से कहा--'तुम शीघ्र देवदासियों में जाकर मिलो । सावधान ! एक शब्द भी मुख

से न निकले ! मैं अशोक को लेकर नगर की ओर जाता हूँ !' वह बिना उत्तर की परीक्षा किये मुझे घसीटता ले चला। मैं नहीं जानता कि मैं कैसे घर पहुँचा। मैं कोठरी में अचेत पड़ा रहा। रात भर वैसे ही रहा। प्रभात होते ही तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। मैंने क्या किया ? रमेश ! तुम कुछ लिखो, मैं क्या करूँ ?

—अधम अशोक

× × ×

'.........'

८-४-२५

प्रिय रमेश !

तुम्हारा यह लिखना कि 'सावधान बनो, पत्र में ऐसी बातें अब न लिखना !' व्यर्थ है। मुझे भय नहीं, प्राण की चिन्ता नहीं।

नगर भर में केवल यही जनश्रुति फैली है कि 'रामस्वामी उस दिन से कहीं चला गया और वह पद्मा के प्रेम से हताश हो गया था।' मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हूँ। चिदम्बरम् मुझे दो मुट्ठी भात खिलाता है। मैं मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में कहीं न कहीं बैठा रहता हूँ। चिदम्बरम् जैसे मेरा उस जन्म का पिता है। परन्तु पद्मा ! अहा ! उसी दिन से उसको गाते और नाचते नहीं देखा। वह प्रायः सभा मण्डप के स्तम्भ से टिकी हुई, दोनों हाथों में अपने एक घुटने को छाती से लगाये अर्द्धस्वप्नावस्था में बैठी रहती है। उसका मुख विवर्ण, शरीर शीर्ण, पलक अपाङ्ग और उसके श्वास में यान्त्रिक स्पन्दन हैं। नए यात्री

उसे देखकर भ्रम करते होंगे कि वह भी कोई प्रतिमा है और मैं सोचता हूं कि मैं हत्यारा हूँ। स्वेद से स्नान कर लेता हूँ, घृणा से मुख ढक लेता हूँ। उस घटना के बाद से हम तीनों में कभी इसकी चर्चा न हुई। क्या सचमुच पद्मा रामस्वामी को चाहती थी। मेरे प्यार ने भी उसका अपकार ही किया, और मैं ? ओह ! वह स्वप्न कैसा सुन्दर था।

रमेश ! मं देवता की ओर देख भी नहीं सकता। सोचता हूँ कि मैं पागल हो जाऊँगा। फिर मन में आता है कि पद्मा भी बावली हो जायगी। यदि ऐसा हो जाता—हम दोनों पागल हो जाते। परन्तु मैं पागल न हो सकूँगा, क्योंकि मैं पद्मा से कभी अपना प्रणय प्रकट न कर सका। उसके, एक बार अपने में आने की प्रतीक्षा है। और स्पष्ट शब्दों में उस से कह देने की कामना है—पद्मा, मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। तुम मेरे लिए सोहागिनी के कुंकुम-बिन्दु के समान पवित्र, इस मन्दिर के देवता की तरह भक्ति की प्रतिमा और मेरे दोनों लोकों की निगूढतम आकांक्षा हो।

पर वैसा होने का नहीं। मैं पूछता हूँ कि पद्मा और चिदम्बरम् ने मुझे फांसी क्यों नहीं दिलाई ?

रमेश ! अशोक विदा लेता है। वह पत्थर के मन्दिर का एक भिखारी है। अब पैसा नहीं कि तुम्हें पत्र लिखूँ और किसी से माँगूंगा भी नहीं। अधम नीच अशोक लल्लू को किस मुँह से आशीर्वाद दे।

—हतभाग्य अशोक

: सात :

पान वाली

(श्री चतुरसेन शास्त्री)

(१)

लखनऊ के अमीनाबाद पार्क में इस समय जहाँ घंटाघर है, वहाँ अब से ७० वर्ष पूर्व एक छोटी-सी टूटी हुई मस्जिद थी, जो भूतोंवाली मस्जिद कहलाती थी, और अब जहाँ गंगा-पुस्तक-माला की आलीशान दूकान है, वहाँ एक छोटा-सा एकमंज़िला घर था। चारों तरफ न आज की-सी बहार थी, न बिजली की चमक, न बढ़िया सड़कें, न मोटर, न मेम-साहिबाओं का इतना जमघट।

लखनऊ के आख़िरी बादशाह प्रसिद्ध वाजिदअली की अमलदारी थी। ऐयाशी और ठाट-बाट के दौर-दौरे थे। मगर इस मुहल्ले में रौनक न थी। उस घर में एक टूटी-सी कोठरी में एक बुढ़िया मनहूस सूरत, सन के समान बालों को बिखेरे, बैठी किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। घर में एक दिया धीमी आभा से टिमटिमा रहा था। रात के दस बज गये थे। जाड़े के दिन थे, सभी लोग अपने-अपने घरों में रज़ाइयों में मुँह लपेटे पड़े थे। गली और सड़क पर सन्नाटा था।

धीरे-धीरे बढ़िया वस्त्रों में आच्छादित एक पालकी इस टूटे घर के द्वार पर चुपचाप रुकी और काले वस्त्रों से आच्छादित

एक स्त्री-मूर्ति ने बाहर निकलकर धीरे-से द्वार पर थपकी दी। तत्काल द्वार खुला, और स्त्री ने घर में प्रवेश किया।

बुढ़िया ने कहा—"खैर तो है ?"

"सब ठीक है, क्या मौलवी साहब मौके पर मौजूद हैं ?"

"कब्र के इन्तजार कर रहे हैं, कुछ ज्यादा जाँफ़िशानी तो नहीं करनी पड़ी ?"

"जाँफ़िशानी ? ऐ खुश, जान पर खेल कर लाई हूँ, करती भी क्या ? गर्दन थोड़े ही उतरवानी थी।"

"होश में तो है ?"

"अभी बेहोश है। किसी तरह राज़ी न होती थी। मज़बूरन यह किया गया।"

"तब चलें।"

बुढ़िया उठी। दोनों पालकी में जा बैठीं। पालकी संकेत पर चलकर मस्जिद की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई भीतर चली गई।

(२)

मस्जिद में सन्नाटा और अन्धकार था, मानो वहाँ कोई जीवित पुरुष नहीं है। पालकी के आरोहियों को इसकी परवाह न थी। वे पालकी को सीधे मस्जिद के भीतर कक्ष में ले गये। यहाँ पालकी रक्खी। बुढ़िया ने बाहर आकर एक कोठरी में प्रवेश किया। वहाँ एक आदमी सिर से पैर तक चादर ओढ़े सो रहा था। बुढ़िया ने कहा—"उठिये मौलवी साहब, मुरदों का तावीज़ इनायत कीजिए। क्या अभी बुखार नहीं उतरा ?"

"अभी तो चढ़ा ही है"—कहकर मौलवी साहब उठ बैठे। बुढ़िया ने कुछ कान में कहा, मौलवी साहब सफेद दाढ़ी हिला-

कर बोले--"समझ गया, कुछ खटका नहीं है। हैदर खोजा मौके पर रोशनी लिए हाज़िर मिलेगा। मगर तुम लोग बेहोशी की हालत में किस तरह--"

"आप बेफिक्र रहें। बस सुरंग की चाबी इनायत करें।"

मौलवी साहब ने उठकर मस्जिद की बाईं ओर के चबूतरों के पीछे वाले भाग में जाकर एक क़ब्र का पत्थर किसी तरकीब से हटा दिया। वहां सीढ़ियाँ निकल आईं। बुढ़िया उसी तंग तहखाने के रास्ते उसी काले वस्त्र से आच्छादित लम्बी स्त्री के सहारे एक बेहोश स्त्री को नीचे उतारने लगी। उनके चले जाने पर मौलवी साहब ने गौर से इधर-उधर देखा, और फिर किसी गुप्त तरकीब से तहखाने का द्वार बन्द कर दिया। तहखाना फिर कब्र बन गया।

(३)

उन हज़ारों फ़ानूसों में कसूमा बत्तियाँ जल रही थीं और कमरे की दीवार गुलाबी साटन के परदों से छिप रही थी। फ़र्श पर ईरानी कालीन बिछा था, जिस पर निहायत नफ़ीस और खुशरंग काम बना हुआ था। कमरा खूब लम्बा-चौड़ा था। उसमें तरह-तरह के ताज़े फूलों के गुलदस्ते सजे हुए थे और हिना की तेज़ महक से कमरा महक रहा था। कमरे के एक बाजू में मखमल का बालिश्त भर ऊँचा एक गद्दा बिछा था, जिस पर कारचोबी का उभरा हुआ बहुत ही खुशनुमा काम था। उस पर एक बड़ी सी मसनद लगी थी, जिस पर चार सुनहरे खम्भों पर मोती की झालर का चन्दोवा तना था।

मसनद पर एक बलिष्ठ पुरुष उत्सुकता से किन्तु अलसाया बैठा था। इसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। इसका मोती के समान उज्जवल रंग, कामदेव को मात करने वाला प्रदीप्त सौंदर्य, झब्बेदार मूछें, रस-भरी आँखें और मदिरा-प्रस्फुटित होंठ कुछ और ही समाँ बाँध रहे थे। सामने पानदान में सुनहरी गिलौरियाँ भरी थीं। इत्रदान में शीशियाँ लुढ़क रही थीं। शराब की प्याली और सुराई क्षण-क्षण पर खाली हो रही थी। वह सुगन्धित मदिरा मानो उसके उज्जवल रंग पर सुनहरी निखार ला रही थो। उसके कण्ठ में पन्ने का एक बड़ा-सा कण्ठा पड़ा था और उँगलियों में हीरे की अंगूठियाँ बिजली की तरह दमक रही थीं। यही लाखों में दर्शनीय पुरुष लखनऊ के प्रख्यात नवाब वाजिदअली शाह थे!

कमरे में कोई न था। वह बड़ी आतुरता से किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह आतुरता क्षण-क्षण पर बढ़ रही थी। एकाएक एक खटका हुआ। बादशाह ने ताली बजाई और वही लम्बी स्त्री मूर्ति सिर से पैर तक काले वस्त्रों से शरीर को लपेटे मानो दीवार फाड़ कर आ उपस्थित हुई।

"ओह मेरी गबरू! तुमने तो इन्तजार ही में मार डाला। क्या गिलौरियाँ लाई हो?"

"मैं हुजूर पर कुर्बान!" इतना कह कर उसने वह काला लबादा उतार डाला। उफ़ ग़ज़ब! उस काले आवेष्ट में मानो सूर्य का तेज छिपा था। कमरा चमक उठा। बहुत बढ़िया चमकीले विलायती साटन का पोशाक पहने एक सौन्दर्य की प्रतिमा इस तरह निकल आई, जैसे राख के ढेर में से अंगार' इस अग्निष्ठ सौन्दर्य की रूप-रेखा कैसे बयान की जाय? इस अंग्रेजी

राज्य और अंग्रेज़ी सभ्यता में, जहाँ क्षणभर चमक कर बादलों में विलीन हो जाने वाली बिजली, सड़क पर अयाचित ढेरों पर प्रकाश बखेरती रही है, तब इस रूप-ज्वाला की उपमा कहाँ ढूँढी जाय ? उस अन्धकारमय रात्रि में यदि उसे खड़ा कर दिया जाय तो वह कसौटी पर स्वर्ण-रेखा की तरह दीप्त हो उठे और यदि वह दिन के उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी कर दी जाय, तो उसे देखने का साहस कौन करे ? किन आँखों में इतना तेज है ?

उस सुगन्धित और मधुर रात्रि में मदिरा-रंजित नेत्रों से वाजिदअली की वासना उस रूप-ज्वाला को देखते ही भड़क उठी। उन्होंने कहा--"रूपा, जरा नजदीक आओ। एक प्याला शीराज़ी और पानी लगाई हुई अंबरी पान की बिड़ियाँ दो तो। तुमने तो तरसा-तरसाकर मार डाला।"

रूपा आगे बढ़ी, सुराही से शराब उँड़ेली और जमीन में घुटने टेककर आगे बढ़ा दी, इसके बाद उसने चार सोने के वर्क-लपेटी बिड़ियाँ निकालकर बादशाह के सामने पेश कीं और दस्तबस्ता अर्ज की--"हुजूर की खिदमत में लौंडी वह तोहफा ले आई है।"

वाजिदअली शाह की बाछें खिल गईं। उन्होंने रूपा को घूम-घूमकर कहा--"वाह! तब तो आज...." रूपा ने संकेत किया। हैदर खोजा उस फूल सी मुरझाई कुसुम-कली को फूल की तरह हाथों पर उठाकर--पान-गिलौरी की तश्तरी की तरह--बादशाह के रूबरू कालीन पर डाल गया। रूपा ने बाँकी अदा से कहा--"हुजूर को आदाब!" और चलदी।

(४)

एक चौदह वर्ष की, भयभीत, मूर्च्छित, असहाय, कुमारी बालिका अकस्मात् आंख खुलने पर सम्मुख शाही ठाठ से सजे हुए महल और दैत्य के समान नरपशु को पाप वासना से प्रमत्त देखकर क्या समझेगी ? कौन अब इस भयानक क्षण की कल्पना करे। वही क्षण--होश में आते ही उस बालिका के सामने आया। वह एकदम चीत्कार करके फिर बेहोश हो गई। पर इस बार शीघ्र ही उसकी मूर्च्छा दूर हो गई। एक अतर्क्य साहस, जो ऐसी अवस्था में प्रत्येक जीवित प्राणी में हो जाता है, उस बालिका के शरीर में उदय हो आया। वह सिमटकर बैठ गई, और पागल की तरह चारों तरफ एक दृष्टि डालकर एकटक उस मत्त पुरुष की ओर देखने लगी।

उस भयानक क्षण में भी उस विशाल पुरुष का सौन्दर्य और प्रभा देखकर उसे कुछ साहस हुआ। वह बोली तो नहीं, पर कुछ स्वस्थ होने लगी।

नवाब ज़ोर से हँस दिये। उन्होंने गले का वह बहुमूल्य कण्ठा उतार कर बालिका की ओर फेंक दिया। इसके बाद वह नेत्रों के तीर निरन्तर फेंकते बैठे रहे।

बालिका ने कण्ठा देखा भी नहीं, छुआ भी नहीं, वह वैसी ही सिकुड़ी हुई, वैसी ही निर्निमेष दृष्टि से भयभीत हुई नवाब को देखती रही।

नवाब ने दस्तक दी। दो बांदियाँ दस्तबस्ता आ हाजिर हुईं। नवाब ने हुक्म दिया—"इसे गुस्ल कराकर और सब्ज परी बना कर हाजिर करो।" उस पुरुष-पाषाण की अपेक्षा स्त्रियों का संसर्ग ग़नीमत जानकर बालिका मंत्रमुग्ध सी उठ कर उनके साथ चली गई।

इसी समय एक खोजे ने आकर अर्ज की—"खुदावन्द ! साहब बहादुर बड़ी देर से हाजिर हैं।"

"उनसे कह दो, अभी जच्चाखाने में हैं, अभी मुलाकात नहीं होगी।"

"आलीजाह ! कलकत्ते से एक जल्दी........

"मर मुए, हमारे पीर उठ रही है।"

खोजा चला गया।

लखनऊ के खास बाजार की बहार देखने योग्य थी। शाम हो चली और छिड़काव हो गया था। इक्कों और बहलियों, पालकियों और घोड़ों का अजीब जमघट था। आज तो उजाड़ अमीनाबाद का रंग ही कुछ और है। तब यही रौनक चौक को प्राप्त थी। बीच चौक में रूपा की पानों की दूकान थी। फ़ानूसों और रंगीन झाड़ों से जगमगाती गुलाबी रोशनी के बीच स्वच्छ बोतल में मदिरा की तरह रूपा दूकान पर बैठी थी। दो निहायत हसीन लौंडियाँ पान की गिलौरियाँ बनाकर उसमें सोने के वर्क लपेट रही थीं। बीच-बीच में अठखेलियाँ भी कर रही थीं। आजकल के कलकत्ते के कोरेंथियन थिएटर रंग-मंच पर भी ऐसा मोहक और आकर्षक दृश्य नहीं देख पड़ता जैसा उस समय रूपा की दूकान पर था। ग्राहकों की भीड़ का पार न था। रूपा खास-खास ग्राहकों का स्वागत कर पान दे रही थी। बदले में खनाखन अशर्फियों से उसकी गंगाजमुनी काम की तश्तरी भर रही थी। वे अशर्फियाँ रूपा की एक अदा, एक मुस्कराहट—केवल एक कटाक्ष मोल थीं। पान की गिलौरियाँ तो लोगों को घातों में पड़ती थीं। एक नाजुक-अंदाज़ नवाबजादे तामजाम में बैठे अपने मुसाहबों और कहारों के झुरमुट के साथ आये, और रूपा की दूकान् पर तामजाम रोका। रूपा ने सलाम करके

कहा—"मैं सदके शाहजादा साहब, ज़री बांदी की एक गिलौरी कबूल फर्मावें।" रूपा ने लौंडी की तरफ इशारा किया। लौंडी सहमत हुई। सोने की एक रकाबी में ५-७ गिलौरियाँ लेकर तामजाम तक गई। शाहजादे ने मुस्कराकर दो गिलौरियाँ उठाईं, एक मुट्ठी अशर्फियाँ तश्तरी में डालकर आगे बढ़े। एक खांसाहब बालों में मेंहदी लगाये, दिल्ली के वासली के जूते पहने, तनजेब की चपकन कसे, सिर पर लैसदार ऊंची टोपी लगाये आये। रूपा ने बड़े तपाक से कहा—'खां साहब! आज तो हुजूर रास्ता भूल गये! अरे कोई है, आपको बैठने की जगह दे। अरी गिलौरियाँ तो लाओ।"

खां साहब रूपा के रूप की तरह चुपचाप गिलौरियों के रस का घूँट पीने लगे। थोड़ी देर में एक अधेड़ मुसलमान अमीर-जादे की शकल में आये। उन्हें देखते ही रूपा ने कहा—"अरे हुजूर तशरीफ ला रहे हैं। मेरे सरकार आप तो ईद के चाँद हो गये। कहिए, खैरियत है? अरी, मिर्जा साहब को गिलौरियाँ दीं?" तश्तरी में खनाखन हो रही थी, और रूपा की रूप और पान की हाट खूब गरमा रही थी। ज्यों-ज्यों अन्धकार बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों रूपा पर रूप की दुपहरी चढ़ रही थी। धीरे-धीरे एक पहर रात बीत गई। ग्राहकों की भीड़ कुछ कम हुई। रूपा अब सिर्फ कुछ चुने हुए प्रेमी ग्राहकों से घुल-घुलकर बातें कर रही थी। धीरे-धीरे एक अजनबी आदमी दूकान पर आ कर खड़ा हो गया। रूपा ने अप्रतिभ होकर पूछा—

"आपको क्या चाहिये?"

"आपके पास क्या-क्या मिलता है?"

"बहुत-सी चीजें। क्या पान खाइयेगा?"

"क्या हर्ज है?"

रूपा के संकेत से दासी बालिका ने पान की तश्तरी अजनबी के आगे धर दी।

दो बीड़ियाँ हाथ में लेते हुए उसने कहा—"इनकी कीमत क्या है बी साहबा ?"

"जो कुछ जनाब दे सकें।"

"यह बात है ! तब ठीक, जो कुछ मैं ले सका, वह लूंगा भी !" अजनबी हँसा नहीं। उसने भेदभरी दृष्टि से रूपा को देखा।

रूपा की भृकुटी जरा टेढ़ी पड़ी और वह एक बार तीव्र दृष्टि से देखकर फिर अपने मित्रों के साथ बातचीत में लग गई। पर बातचीत का रंग जमा नहीं। धीरे-धीरे मित्रगण उठ गये। रूपा ने एकान्त पाकर कहा—

"क्या हुजूर का मुझसे कोई खास काम है ?"

"मेरा तो नहीं, मगर कम्पनी बहादुर का है।"

रूपा कांप उठी। वह बोली—"कम्पनी बहादुर का क्या हुक्म है ?"

"भीतर चलो तो कहा जाय।"

"मगर माफ कीजिये—आप पर यकीन कैसे ?

"ओह ! समझ गया। बड़े साहब की यह चीज तो तुम शायद पहचानती ही होगी ?"

यह कह कर उन्होंने एक अँगूठी दूर से दिखा दी।

"समझ गई ! आप अन्दर तशरीफ लाइये।"

रूपा ने एक दासी को अपने स्थान पर बैठाकर अजनबी के साथ दूकान के भीतरी कक्ष में प्रवेश किया।

दोनों व्यक्तियों में क्या बातें हुईं, यह तो हम नहीं

जानते, मगर उसके ठीक तीन घंटे बाद दो व्यक्ति काला लबादा ओढ़े दूकान से निकले और किनारे लगी हुई पालकी में बैठ गये। पालकी धीरे-धीरे उसी भूतोंवाली मस्जिद में पहुँची। उसी प्रकार मौलवी ने कब्र का पत्थर हटाया और एक मूर्ति ने कब्र के तहखाने में प्रवेश किया। दूसरे व्यक्ति ने एकाएक मौलवी को पटककर मुश्कें बाँध लीं और एक संकेत किया। क्षणभर में ५० सुसज्जित काली-काली मूर्तियाँ आ खड़ी हुईं और बिना एक शब्द मुँह से निकाले चुपचाप कब्र के अन्दर उतर गईं।

(६)

अब फिर चलिए अनंगदेव के उसी रंग-मन्दिर में। सुख साधनों से भरपूर वही यह कक्ष आज सजावट खतम कर गया था। सहसा उल्कापात की तरह रंगीन हाँडियाँ, बिल्लौरी फानूस और हज़ारों भाड़ सब जल रहे थे। तत्परता से किन्तु नीरव बाँदियाँ और गुलाम दौड़-धूप कर रहे थे। अनगिनत रमणियाँ अपने मदभरे होठों की थालियों में भाव की मदिरा उँडेल रही थीं। उन सुरीले रागों की बौछारों में बैठे बादशाह वाजिदअली शाह शराबोर हो रहे थे। उस गायनोन्माद में मालूम होता था, कमरे के जड़ पदार्थ भी मतवाले होकर नाच उठेंगे। नाचने वालियों के ठुमके और नूपुर की ध्वनि सोते हुए यौवन से ठोकर मारकर कहती थी--'उठ उठ, ओ मतवाले उठ!" उन नर्तकियों के बढ़िया चिकनदोजों के सुवासित दुपट्टे से निकली हुई सुगन्धि उनके नृत्यवेग से विचलित वायु के साथ घुल-मिलकर ग़दर मचा रही थी। पर सामने का सुनहरी फव्वारा, जो सामने स्थिर ताल पर बीस हाथ ऊपर फेंककर रंगीन जलबिन्दु राशियों से हाथापाई कर रहा था, देखकर कलेजा बिना उछले कैसे रह सकता था।

उसी मसनद पर बादशाह वाजिदअली शाह बैठे थे। एक गंगाजमनी काम का अलबोला वहाँ रक्खा था, जिसकी खमीरी मुश्की तम्बाकू जलकर एक अनोखी सुगन्धि फैला रही थी। चारों तरफ़ सुन्दरियों का झुरमुट उन्हें घेरे बैठा था। सभी अधनंगी, उन्मत्त, निर्लज्ज हो रही थीं। पास ही सुराही और थालियाँ रक्खी थीं और बारी-बारी से उन दुर्बल होंठों को चूम रही थीं। आधा मद पी-पीकर वे सुन्दरियाँ उन प्यालियों को बादशाह के होंठों में लगा देती थीं। वह आँखें बन्द करके उसे पी जाते थे। कुछ सुन्दरियाँ पान लगा रही थीं, कुछ अलबोले की निगाली पकड़े हुई थीं। दो सुन्दरियाँ दोनों तरफ पीकदान लिए खड़ी थीं, जिनमें बादशाह कभी-कभी पीक गिरा देते थे।

इस उल्लसित आमोद के बीच-बीच एक मुर्झाया हुआ पुष्प कुचली हुई पान की गिलौरी--वही बालिका--बहुमूल्य हीरे-खचित वस्त्र पहने--बादशाह के बिल्कुल पास में लगभग मूर्च्छित और अस्तव्यस्त पड़ी थी। रह-रहकर शराब की प्याली उसके मुख से लग रही थी, और वह खाली कर रही थी। एक निर्जीव दुशाले की तरह बादशाह उसे अपने बदन से मानो अपनी तमाम इन्द्रियों को एक ही रस में शराबोर कर रहे थे। गम्भीर आधीरात बीत रही थी। सहसा इसी आनन्दवर्षा में बिजली गिरी। कक्ष के उसी गुप्त द्वार को विदीर्ण कर क्षण-भर में वही रूपा काले आवरण से नखशिख ढके निकल आई। दूसरे क्षण में एक और मूर्ति वैसे ही आवेष्ट में बाहर निकल आई। क्षणभर बाद दोनों ने अपने आवेष्टन उतार फेंके। वही अग्निशिखा ज्वलन्त रूपा और उसके साथ गौरांग कर्नल !

नर्तकियों ने एकदम नाचना-गाना रोक दिया। बाँदियाँ शराब की प्यालियाँ लिये काठ की पुतली की तरह खड़ी-की-खड़ी रह गईं। केवल फव्वारा ज्यों-का-त्यों आनन्द से उछल रहा

था। बादशाह यद्यपि बिलकुल बदहवास थे मगर यह सब देख कर वह मानों आधे उठकर बोले––"ओह! रूपा दिलरुबा! तुम और एं मेरे दोस्त कप्तान– स वक्त यह क्या माजरा है?"

आगे बढ़कर, और अपनी चुस्त पोशाक ठीक करते हुए तलवार की मूठ पर हाथ रख कप्तान ने कहा––"कल आलीजाह की बन्दगी में हाजिर हुआ था, मगर........"

"ओह, मगर––इस वक्त इस रास्ते से? एं माजरा क्या है? अच्छा बैठो, हाँ, जोहरा एक प्याला मेरे दोस्त कर्नल के........"

"माफ़ करें हुजूर! इस समय मैं एक काम से सरकार की खिदमत में हाजिर हुआ हूँ।"

"काम! वह काम क्या है?" बैठते हुए बादशाह ने कहा

"मैं तख़लिये में अर्ज़ किया चाहता हूँ।"

"तख़लिये! अच्छा, अच्छा, जोहरा! ओ कादिर!"

धीरे-धीरे रूपा को छोड़कर सभी बाहर निकल गईं। उस सौंदर्य-स्वप्न में रह गई अकेली रूपा। रूपा को लक्ष्य करके कहा–"यह तो ग़ैर नहीं। रूपा! दिलरुबा! एक प्याला अपने हाथों से दो तो!" रूपा ने सुराही से शराब उँडेल लबालब प्याला भर कर बादशाह के होठों से लगा दिया। हाय! लखनऊ के नवाब का वही अन्तिम प्याला था। उसे बादशाह ने आँखें बन्द कर पीकर कहा–"वाह प्यारी!"

"हाँ, अब तो वह बात! मेरे दोस्त...."

"हुजूर को ज़रा रेजिडेंसी तक चलना होगा।"

बादशाह ने उछल कर कहा––"एं, यह कैसी बात! रेजिडेंसी तक मुझे?"

"जहाँपनाह, मैं मजबूर हूँ, काम ऐसा ही है।"

"इसका मतलब?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकता। कल मैं यही तो अर्ज़ करने हाज़िर हुआ था।"

"ग़ैर मुमकिन? ग़ैर मुमकिन?" बादशाह ग़ुस्से से होंठ काटकर उठे, और अपने हाथ से सुराही उंडेल कर ३-४ प्याले पी गये। धीरे-धीरे उसी दीवार से एक-एक करके ४० गोरे संगीन और किर्चें सजाए कक्ष में घुस आये।

बादशाह देखकर बोले—"ख़ुदा की क़सम, यह तो दग़ा है! कादिर।"

"जहाँपनाह, अगर ख़ुशी से मेरी अर्ज़ कबूल न करेंगे, तो ख़ूनख़राबी होगी। कम्पनी बहादुर के गोरों ने महल घेर लिया है। अर्ज़ यही है कि सरकार चुपचाप चले चलें।"

बादशाह धम से बैठ गये। मालूम होता है, क्षणभर के लिए उनका नशा उतर गया। उन्होंने कहा—"तुम तब क्या मेरे दुश्मन होकर मुझे क़ैद करने आये हो?"

"मैं हुज़ूर का दोस्त हूँ, हर तरह हुज़ूर के आराम और फरहत का ख्याल रखता हूँ, और हमेशा रखूँगा।"

बादशाह ने रूपा की ओर देखकर कहा—"रूपा! रूपा! यह क्या माजरा है? तुम भी क्या इस मामले में हो? एक प्याला——मगर नहीं, अब नहीं। अच्छा——सब साफ-साफ सच कहो! कर्नल मेरे दोस्त...नहीं, नहीं अच्छा कर्नल! सब खुलासावार बयान करो।"

"सरकार, ज्यादा मैं कुछ नहीं कह सकता। कम्पनी बहादुर का खास परवाना लेकर खुद लाट साहब तशरीफ लाए हैं और आलीजाह से कुछ मशविरा किया चाहते हैं।"

"मगर यहाँ? यह नामुमकिन है।"

बादशाह ने कर्नल की तरफ देखा। वह तना खड़ा था और उसका हाथ तलवार की मूठ पर था।

"समझ गया, सब समझ गया।" यह कहकर बादशाह कुछ देर हाथों से आँखें ढाँपकर बैठ गये। कदाचित् उनकी सुन्दर रस-भरी आँखों में आँसू भर आये हों।

रूपा ने पास आकर कहा—"मेरे खुदावन्द, बाँदी..."

"हट जा, ऐ नमकहराम, रजील, बाजारू औरत?"

बादशाह ने यह कहकर एक ठोकर लगाई, और कहा—"तब चलो? मैं चलता हूँ खुदा हाफिज।"

पहले बादशाह, पीछे कप्तान, उसके पीछे रूपा, और सब के अन्त में एक-एक करके सिपाही उसी दरार में विलीन हो गये। महल में किसी को कुछ मालूम न था। वह मूर्तिमान संगीत—वह उमड़ता हुआ आनन्द-समुद्र सदा के लिये मानो किसी जादूगर ने निर्जीव कर दिया।

(७)

कलकत्ते के एक उजाड़ से भाग में, एक बहुत विशाल मकान में, वाजिदअली शाह नजरबन्द थे। ठाठ लगभग वही था। सैकड़ों दासियाँ, बाँदियाँ और वेश्याएँ भरी हुई थीं, पर वह रंग कहाँ?

खाना खाने का वक्त हुआ, और जब दस्तरखान पर खाना चुना गया, तो बादशाह ने चख-चखकर फेंक दिया। अंगरेज अफसर ने घबड़ाकर पूछा—"खाने में क्या नुक्स है।"

जवाब दिया गया—"नमक खराब है।"

"नवाब कैसा नमक खाते हैं?"

"एक मन का डला रखकर उस पर पानी की धार छोड़ी जाती है। जब घुलते-घुलते छोटा-सा टुकड़ा रह जाता है तब बादशाह के खाने में वह नमक इस्तेमाल होता है।"

अंगरेज़ अधिकारी मुस्कराता चला गया। क्यों ? ओह ! हम लोगों के समझने के योग्य वह भेद नहीं।

उसी रसरंग की दीवारों के भीतर अब सरकारी दफ्तर खुल गये हैं, और वह अमर कैसर बाग़ मानो रंडुए की तरह खड़ा उस रसीली रात की याद में सिर धुन रहा है।

: आठ :

तोषी

(वृन्दावनलाल वर्मा)

अपनी गाय के लिए तोषी खेत में से हरियाली ले रही थी। उसके दोनों बच्चे खेत के छोटे-छोटे ढेलों के साथ खेल रहे थे।

गाँव से कुछ दूरी पर यकायक हल्ला सुनाई पड़ा। तोषी ने झटपट हरियाली को एक कपड़े में बाँधकर सिर पर रखा। एक बच्चे को बगल में लिया और दूसरे को हाथ से पकड़ कर जल्दी जल्दी घर की ओर चली। बच्चा मिट्टी का ढेला हाथ में लिए बिसूरता हुआ किसी तरह माँ का साथ देने लगा।

लायलपुर ज़िले के मझना गाँव में हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू, सिख, मुसलमान और थोड़े-से ईसाई—लगभग बराबर थे। किसान मज़दूरों का गाँव था। कोई साम्प्रदायिक झगड़ा कभी नहीं हुआ था। इधर-उधर दंगों-फ़िसादों की आग लग चुकी थी, परन्तु मझना वाले अपने को सुरक्षित समझते थे।

गाँव पहुँचते-पहुँचते तोषी ने देखा कि मझना वालों का विश्वास ग़लत हो गया है। बाहर के मुसलमानों ने मझना पर आक्रमण कर दिया है। उनके साथ पुलिस और सेना के कुछ सिपाही थे।

पहले तो गाँव के मुसलमानों ने प्रतिवाद किया, परन्तु पीछे दब गये, और बहुत से आक्रमणकारियों में शामिल हो गए। तोषी ने किवाड़ बन्द करके साँकल चढ़ा ली और दोनों बच्चों को समेटकर एक कोने में जा बैठी। एक

लड़का और दूसरी लड़की। लड़का सात वर्ष का, लड़की चार वर्ष की। घर में बूढ़ा ससुर, जो ज्वर के कारण चारपाई से लगा हुआ था। हल्ले को सुनकर बूढ़े को भी मालूम हो गया कि क्या हो रहा है। बूढ़े ने दाँत पीसे।

बोला––"न हुए मेरे बेटे घर पर, नहीं तो बदमाशों को मज़ा चखा देते।"

तोषी ने भगवान् को सुमरते हुए सोचा, अच्छा हुआ घर पर नहीं हैं। भगवान् उनको सुखी बनाये रखे।

तोषी का पति नन्दलाल दिल्ली के एक कारखाने में नौकर था और नन्दलाल का बड़ा भाई जियाराम नागपुर के बढ़ईखाने में मिस्त्री था।

(२)

तोषी के घर की भी बारी आई। किवाड़ फाड़ने में देर लगती देखकर आक्रमणकारियों ने घर में आग लगा दी। तोषी दोनों बच्चों को बगल में दाबकर किवाड़ों के पास आ गई। उसने विनती की परन्तु आक्रमणकारियों ने न माना। तोषी ने किवाड़ खोल दिए। लुटेरे भीतर घुस पड़े। बुड्ढे को मार डाला। जो कुछ घर में था ले लिया। गाय को पकड़ कर बाहर घसीट ले गए।

तोषी ने अपने और अपने बच्चों के लिए दया की भीख माँगी। उसकी आयु पच्चीस-छब्बीस साल की थी। रूप साधारण, परन्तु थी तो स्त्री। लुटेरों न उसकी और उसके बच्चों की जान नहीं लीं। उन्होंने उसको एक जगह घेर कर बिठला लिया। बच्चे उसके पास थे। रो-रोकर दम-सा तोड़ रहे थ। तोषी की आँखें खुली थीं, परन्तु उसको दिखलाई कुछ भी नहीं पड़ रहा था; दिखलाई भी पड़ता था तो मानो समझ मे कुछ

नहीं आ रहा था। बच्चों का रोना-कलपना उसको झटके-से दे देता था, उस समय कुछ-कुछ समझ में आता था कि क्या हो रहा है या क्या होने वाला है।

गाँव को राख करने के उपरान्त लुटेरे चल दिए। तोषी और उसके बच्चों को भी ले गए। कुछ और हिन्दू स्त्रियों के साथ भी उन्होंने यही सलूक किया, परन्तु वे स्त्रियाँ तोषी के सामने न थीं।

उसी दिन सन्ध्या के पहले वे लोग भूखी-प्यासी तोषी को एक मस्जिद में ले गए। पेश इमाम के सामने तोषी और उसके बच्चों को खड़ा कर दिया गया।

बगल में खड़े हुए किसी ने तोषी से कहा--"तुमको मुसलमान होना पड़ेगा। इनकार करोगी तो बुरी तरह मारी जाओगी।"

"मैं मुसलमान नहीं होऊँगी।" सिसकती हुई तोषी बोली।

"तब मरो।"

"तैयार हूँ। मार डालो।" तोषी ने इधर-उधर देखा। मसजिद के अहाते में पास ही कुआँ भी था। तोषी ने सोचा, 'दौड़ कर इसमें कूदती हूँ और अपनी इज्जत बचाती हूँ।'

जो आदमी उनके पास खड़ा था वह शायद समझ गया। पास खड़े हुए बच्चों की ओर संकेत करके उसने ठोकर-सी दी।

"ये बच्चे तुम्हारे ही हैं?"

बच्चों से लिपट कर तोषी ने फटे हुए गले से उत्तर दिया--"हाँ जी, मेरे ही हैं।"

"ये पहले मारे जायेंगे। तब तुम्हारी बारी आवेगी।"

"मैं इनको नहीं मरने दूंगी । मेरे चाहे टुकड़े-टुकड़े कर डालो ।"

"इनको बचाना चाहती हो तो इस्लाम कबूल करो ।"

कुएँ पर से आँख को हटाकर तोषी ने पेश इमाम को देखा । बहुत धीमे स्वर में तोषी के गले से प्रश्न फूटा ।

"आप कौन हैं ? आप बड़े हैं—क्या मुझको न बचायेंगे ?"

रूखे स्वर में पेश इमाम ने उत्तर दिया—"इस्लाम कबूल करने से बच जाओगी । तुम्हारे बच्चे भी बच जायेंगे ।"

बच्चे प्यासे थे । पानी के लिए त्राहि-त्राहि करने लगे । तोषी की सूखी और सूजी हुई आँखों में बिजली-सी कौंधी । उसके ओठ फड़के । परन्तु वह बिजली और वह फड़क वहीं लीन भी हो गई । उसने बच्चों की ओर देखा । सिर नीचा पड़ गया और आँख मुंद गईं ।

टूटे हुए स्वर में बोली—"मैं इस्लाम को कबूल करूँगी ।"

इमाम ने पूछा—"तुम्हारा नाम ?"

उत्तर मिला—"तोषी बाई ।"

कलमा पढ़ने के बाद तोषी को बताया गया कि उसका नाम रहीमन हो गया ।

बच्चे शहरी कानून के अनुसार स्वतः मुसलमान हो गए। निकाह के लिए उससे कुछ नहीं पूछा गया । निकट ही जो गुंडा खड़ा हुआ था उसके साथ तोषी—रहीमन—का निकाह कर दिया गया और वह उसके साथ कर दी गई ।

तोषी ने कई बार आत्मघात का निश्चय किया, परन्तु बच्चों की मोहिनी ने वर्जित कर दिया ।

पन्द्रह दिन के बाद उस गुंडे ने तोषी को तलाक दे दिया।

तीन बार 'मैंने छोड़ा' कह देने से गुंडे को छुट्टी मिल गई। गुंडे ने कुछ रुपयों में तोषी को दूसरे गुंडे के हाथ बेच दिया। उसका फिर निकाह हुआ। तोषी ने फिर मरने की ठानी, परन्तु बच्चों को वह किसके साथ छोड़ जाती? निश्चय को पूरा न कर सकी।

इस गुंडे ने एक ही सप्ताह में तलाक दे दी। तीसरे निकाह की तैयारी हुई तब तोषी ने सोचा--"ऐसे बच्चों का क्या करूँगी जिनके लिए इतनी दुर्गति सहनी पड़े?" उसने बच्चों को मारकर मर जाने का निर्णय किया। अवसर खोजने लगी।

(३)

पाकिस्तानी और हिन्दुस्तानी सरकार में एक समझौता हुआ। दोनों सरकारों की सेनायें अपने-अपने निष्क्रमणार्थियों को अपने-अपने पहरे में ले जायं और भगाई हुई स्त्रियों तथा बच्चों को भी अपनी रक्षा में ले लें। हिन्दुस्तानी पुलिस और सेना ने इस समझौते के अपने भाग को पूरी तरह निभाने की चेष्टा की, पाकिस्तानी पुलिस और सेना ने पैंतरों से काम लिया--अर्थात् जिन स्त्रियों को निकम्मा या व्यर्थ समझा, उनको हिन्दुस्तानी सरकार के हवाले कर देने में ही अपनी जिम्मेदारी को पूरा करना काफी माना।

नन्दलाल को अपने घर का कोई समाचार नहीं मिला। समझा सब समाप्त हो गया। समाचार पाने का कोई साधन था

भी नहीं। नागपुर से उसके भाई जियाराम के तार पर तार आए मानो नागपुर की अपेक्षा दिल्ली लायलपुर के अधिक निकट होने के कारण लायलपुर के समाचार पाने के विषय में अधिक सौभाग्यशाली हो। समाचार न मिलने पर भी दोनों भाइयों को एक पीड़ापूर्ण विश्वास था--बूढ़ा बाप मारा गया, घरबार लुट गया और स्त्री तथा बच्चे कहीं कैद में हैं!

परन्तु पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच के समझौते की बात समाचार-पत्रों में पढ़कर दोनों भाइयों के हृदय में आशा का संचार हुआ, शायद बच्चे मिल जायँ, और स्त्री भी। नन्दलाल के जी को स्त्री की बात सोचते ही ठेस लगी। यदि स्त्री मेरे काम की न रही तो?

उसी समय नन्दलाल को अपने बड़े भाई जियाराम का पत्र मिला। उसमें लिखा था--

"मुझको आशा है कि तोषी और बच्चे मिल जायेंगे। यदि तोषी के साथ कोई जबरदस्ती की गई हो, यदि उसको मुसलमान बना लिया गया हो तो भी, मिलने पर, उसको तुरन्त ग्रहण कर लेना। वह गंगा के समान पवित्र है। हमको देह की बुराई-भलाई से कोई प्रयोजन नहीं। यदि उसकी आत्मा को कलंक नहीं लगा है तो उसको देवी की तरह अपना कर पूरे आदर के साथ घर में ले लेना। मैं उसका छुआ हुआ ही नहीं, उसका जूठन तक खाने को तैयार रहूँगा। मुझको तार देना। मैं तुरन्त नागपुर से आ जाऊँगा।"

नन्दलाल को अपने बड़े भाई की बात समझ में आ गई। उसने सोचा, "यदि अन्य हिन्दू मेरा तिरस्कार करेंगे तो देवतुल्य मेरे बड़े भाई तो मेरे साथ हैं।"

(४)

भारतीय सेना का दस्ता पाकिस्तानी पुलिस के साथ उस गाँव में पहुँचा, जहाँ तोषी--या रहीमन–अपने बच्चों के साथ थी। उस दिन वह अपने बच्चों को समाप्त करने का अवसर ढूँढ़ने में व्यस्त थी। वह नहीं चाहती थी कि अब किसी के लिए भी और अधिक दुर्दशा को सहे।

भारतीय सेना के दस्ते का आना उसको मालूम हो गया। जिस गुण्डे के पास वह इस समय थी, वह उससे पीछा छुड़ाना चाहता था। उस गुण्डे के वर्ग वालों के मन में तोषी के प्रति किसी प्रकार का मोह न था। पाकिस्तानी पुलिस कुछ 'कार-गुजारी' दिखलाना चाहती थी। इसीलिए तोषी का पता अविलम्ब लग गया।

तोषी से पूछताछ की गई।

"तुम भारत जाना चाहती हो?"

"क्यों? मैं वहाँ क्या करूँगी?"

"अपने भाईबन्दों में जाओ, अपने समाज में शामिल हो जाओ।"

"मेरा भारत में कोई नहीं है। संसार में मेरा कोई समाज नहीं।"

"तुमको यहाँ से जबरदस्ती नहीं हटाया जायगा। तुम खुशी से जाना चाहो तो जा सकती हो। आराम के साथ अमृतसर, गुरुदासपुर या दिल्ली जहाँ जाना चाहो भेज दिया जायगा।

"दिल्ली! नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। मैं तो मरना चाहती हूँ। आज ही मरूँगी।"

परन्तु वे दोनों बच्चे वहीं खड़े रहे ।

हिन्दुस्तानी दस्ते के कमाण्डर की समझ में आ गया । बोला--"बाई, मैं तुम्हारी बात समझता हूँ । इन बच्चों के लिए जीती रही हो तो थोड़ा और जियो । तुम्हारा समाज इतना दुष्ट और निष्ठुर नहीं है, जितना तुम समझती हो। तुमको बाहें फैलाकर ले लिया जायगा । यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम लोगों के साथ-साथ चलो । हम तुम्हारे भाई हैं।"

तोषी ने कहा--"मेरे हाथ का छुआ खा लोगे । मैं मुसलमान बना ली गई हूँ ।"

"बेशक खा लूँगा ।" हिन्दू कमाण्डर ने आश्वासन दिया । तुम्हारा झूठा पानी तक पी लूँगा । करके देख लो ।"

तोषी ने बच्चों की ओर देखा । वह फूट-फूट कर रोई । उसका निश्चय पिघल कर बह गया । वह हिन्दुस्तानी दस्ते के साथ हो ली ।

परन्तु उसको विश्वास न था ।

हिन्दू कमाण्डर ने तोषी के हाथ का पकाया हुआ खाना खाया । बच्चे हफ्तों के बाद आज प्रसन्न थे और मिट्टी के ढेलों से खेल रहे थे । हिन्दू कमाण्डर आत्माभिमान के मारे फूला न समाता था । परन्तु तोषी के आँसू नहीं रुके थे । समझाता-बुझाता हुआ वह कमाण्डर उसको हिन्दुस्तान के पहले शरणार्थी-शिविर में ले आया । वहाँ से नन्दलाल के पास दिल्ली तार गया, क्योंकि तोषी ने स्वयं दिल्ली जाने से इन्कार कर दिया था ।

नन्दलाल तार पाकर आ गया ।

(५)

नन्दलाल ने तार द्वारा अपने बड़े भाई जियाराम को नागपुर से बुला लिया। जब नन्दलाल तोषी को अपने बच्चों सहित दिल्ली लाया तब जियाराम नागपुर से आ चुका था। वह अगवानी के लिए रेलवे स्टेशन पर गया।

जब वे सब मिले तब उनके आँसुओं का अन्त होता नहीं दिखता था।

जियाराम ने तोषी से कहा—"बेटी, तुम गंगा की तरह पवित्र हो। जैसे राम अनन्त है उसी तरह गंगा की पवित्रता भी अनन्त है।"

उन आँसुओं ने और उस वाणी ने दिल्ली स्टेशन के अनेक हिन्दुओं को पवित्र किया।

क्या हिन्दू समाज भर की कालिमा उन आँसुओं ने थोड़ी सी भी न धोई होगी ?

: नौ :

'ऐमुन तैमुन' और 'तिरकिटता'

(पं० श्रीराम शर्मा, सम्पादक 'विशाल भारत')

सोलह और पच्चीस साल की उमर 'गधा पचीसी उमर' कही जाती है। यह समय बढ़वार का होता है। इस काल में अंग-प्रत्यंग पुष्ट करके प्रकृति अपने मानवी पुतले को संसार संग्राम के लिए तैयार करती है। एक प्रकार से इस समय शरीर में उफान-सा आता है। गधा-पचीसी उमर वाला युवक भी अपने को आवश्यकता से अधिक होनहार, योग्य और बलशाली समझने लगता है। और जब तक शरीर का उफान कम नहीं हो जाता, बढ़वार रुक नहीं जाती और संसार की चिन्ताओं का भूत सर पर नहीं आ बैठता; तब तक उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। इस गधा-पचीसी में, आकाश में छेद कर थेगरा (पैवन्द) लगाने का भी दुःसाहस होता है। इस उमर का नशा चढ़ता सब पर है। हाँ, थोड़े और बहुत की बात दूसरी है।

× × ×

गधा-पंचीसी उम्र का एक ग्रामीण युवक वर्षा ऋतु में बर्दबान और कलकत्ते के बीच पैदल जा रहा था। संयुक्त-प्रान्त के पश्चिमी भाग का रहने वाला था। माता-पिता से लड़कर कलकत्ते की ओर काम की खोज में चल पड़ा था। नई उमर—सो भी गधा-पचीसी की—काम की लगन और कलकत्ते के आकर्षण ने उस युवक के शरीर में बिजली-सी दौड़ा दी थी। उसने ख्याल किया कि अब तो मैदान मार

लिया है। ६०-७० मील का चलना ही क्या। दो सपाटों में ही कलकत्ता जा पहुँचूँगा और घर लौटने का तब तक नाम न लूँगा, जब तक हज़ार-दो हज़ार रुपये पल्ले न हो जायँगे। हाथों में अंगूठी, कान में बाली, गले में कण्ठा और मुण्डा जूता पहन कर चर्र-चर्र करके गाँव से निकलूंगा तो मेरी अमीरी और खूबसूरती की चर्चा कानों-कान कोसों तक फैल जायगी। मेरे विवाह के लिए चारों ओर से खबरें आने लगेंगी। अम्मा मेरे निहोरे करेंगी और कक्का मुझे मनावेंगे कि बेटा, विवाह कर ले; पर मैं सिगरेट का कश खींचते हुए कहूँगा कि किसी खोचड़ के यहाँ मैं विवाह नहीं कर सकता। ऐसे सुखद चित्र खींचता हुआ वह युवक कलकत्ता की ओर बढ़ा जा रहा था।

दिन ढला और शाम होने आई, पर उसकी गति न ढली। इधर शाम के होते ही श्याम घटा गहरी हुई। आसमान पर रात्रि की काली अलकें बिखरी पड़ी थीं। बिजली चमकी अथवा रात ने दाँती पीसी। मूसलाधार पानी गिरने लगा। सहस्र नेत्रों से अश्रुपात होने लगा और आकाश तथा पृथ्वी का सम्पर्क हो गया। युवक का विचार-तिलिस्म टूट गया। पानी से लथपथ व्यग्र होकर वह पासवाले गाँव की ओर भागा और सबसे पहले मकान की ओर कातर दृष्टि से चकित मृगशावक की भांति देखता हुआ उस ओर बढ़ा। ठीक वैसे जैसे बाज से पीछा किये जाने पर चिड़िया आदमियों की ओर उड़ आती है।

फूँस से पटे मकान के बाहर एक चबूतरा था और उस पर एक बूढ़ा ध्यान-मुद्रा में मग्न बैठा हुआ हुक्का पी रहा था। प्रत्येक कश के साथ मानो वह अपने दिल के गुबार निकाल रहा हो। मेह बरसने और हुक्के की गुड़गुड़ में होड़ लगी हुई थी। हृष्ट-पुष्ट पछैयाँ युवक को अपनी ओर आते

देख उसने हुक्का पीना बन्द कर दिया और उसकी ओर देखने लगा। वह बोला नहीं, पर उसकी आँखें साफ बोल रही थीं। युवक ने पास आकर कहा--मैं आज की रात ठहरना चाहता हूँ। परदेशी हूँ। बस बाहर इसी चबूतरे पर पड़ा रहूँगा। आप कौन बिरादरी हैं ?

बूढ़ा--"तुम कौन लोग हो ?"

युवक (कुछ सहमते हुए)--"मैं ब्राह्मण हूँ।"

बूढ़ा--"हम भी ब्राह्मण हैं, कोई बात नहीं है। ठहर जाओ।"

युवक--"तो भगवान की कृपा ही हुई जो पहला मकान ब्राह्मण का ही मिल गया। पानी-फानी पीने की दिक्कत न रहेगी, चने मेरे पास हैं ही।"

बूढ़े ने उस युवक को नीचे से ऊपर तक देखा। वह उससे बात तो करता जाता था, पर उसके मन के भीतर ही भीतर विचारों की कोई दूसरी धारा वह रही थी। तूफान से नदी में धारा से विपरीत दिशा को लहरें उठती हैं; पर धारा उन बाह्य लहरों के नीचे अपनी चाल से चली जाती है। बूढ़े के मन की धारा भी ठीक वैसे ही चल रही थी, उसने युवक से कहा, "यह बंगाल है। भीगे कपड़े न पहनो। न मालूम यहाँ कौनसी बीमारी लग जावे।"

युवक--"कोई बात नहीं है। एक रात का क्या गुजारना। सोते काटी तो क्या, जागते काटी तो क्या ? आप मेरे बारे में कुछ चिन्ता न करें। आपकी यह कौन कम कृपा है कि एक अजनबी आदमी को ठहरने के लिये स्थान दे दिया।"

बूढ़ा--"पच्छिम के आदमी भले होते हैं। यहाँ के किसी यात्री को मैं अपने द्वार पर खड़ा तक न होने देता। यहाँ पर छल-कपट बहुत बढ़ गया है।"

युवक--"मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि नदियों के

साथ ऊपर का सब मैल इधर ही आ गया है ।"

बूढ़ा--"सो नहीं । यहाँ की हवा ही ऐसी है । हाँ, मैं तुम्हें एक धोती और कपड़ा लाये देता हूँ। सूखे कपड़े पहन लो । भीगे कपड़ों को सुखा दो, कहीं बुखार आ गया तो लेने के देने पड़ जायँगे ।"

बहुत आग्रह करने पर युवक ने बूढ़े की दी हुई धोती पहन ली और वह चारपाई पर बैठ गया । बूढ़े की सहानुभूति ने तो उसकी सारी थकावट दूर कर दी और फिर गपशप होने लगी । बातों के दौरान में बूढ़े ने कहा--"तुम इतने बड़ हो गए और जनेऊ नहीं पहना । यहाँ का कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता ।"

युवक--"हम लोग कोरे देहाती हैं; खेती करते हैं । जनेऊ विवाह के समय पहनते हैं ।

बूढ़ा--"अच्छा ! तुम्हारा अभी विवाह नहीं हुआ ।"

युवक--"अभी नहीं हुआ । बीसों जगह से विवाह आये; पर कुछ-न-कुछ खोट निकलती थी । कहीं लड़की काली मिलती थी तो कहीं घर अच्छा नहीं मिलता था । इसी झगड़े के मारे तो मैं इस ओर भाग आया हूँ; अब कमाकर कुछ ले जाऊँगा तो किसी अच्छे घर में विवाह करूँगा ?"

बात करते-करते खाने का सवाल आया और बूढ़े ने उसे आग्रहपूर्वक भोजन करने को राजी कर लिया । उस दिन का-सा भात और शाक उसने अपने जीवन-भर में न खाया था । ऐसी खातिर उसकी कहीं न हुई थी ।

अगले दिन जब युवक चलने लगा तब बूढ़े ने कहा, "खाना तैयार है, खाकर जाना, ऐसी क्या जल्दी है । बुढ़िया न जाने तुम पर क्यों प्रसन्न है । और मेरी राय तो यह है कि कुछ दिन यहीं रहो कलकत्ते में क्या खजाना रखा है ? कलकत्ते का तो नाम ही नाम है । वहाँ तो रुपया वालों

की ही तूती बोलती है। मेहनती-मजूर तो वहाँ मर रहे हैं। उनका सत निकाला जा रहा है। कोई बीमार पड़ जाय तो कोई पूछता ही नहीं। उठाकर हुगली में फेंक देते हैं। किसी ने छुरी भोंक दी तो माँ-बाप बिलखते ही रह जायँगे। और सुनो, हम भी ब्राह्मण हैं। हजार-दो हजार की पूंजी मेरे पास भी है। मकान है, जमीन है। मेरे कोई लड़का भी नहीं है। अब काम भी नहीं होता। घर में मेरी एक बड़ी शऊर वाली लड़की है। कई लड़कों ने विवाह के लिए खबर भेजी है; पर मैं अपनी नेक लड़की को भाड़ में थोड़े ही झोंक दूंगा।"

विवाह प्रस्ताव से युवक स्तम्भित रह गया। सुन्दर केशों वाली युवती के विशाल नेत्र वह प्रातःकाल ही देख चुका था। गौरवर्ण न था, पर सौन्दर्य कोई रंग पर थोड़े ही है। युवक के सम्मुख कितना बड़ा आकर्षण था। घर-घूरे के साथ उसे विवाह में एक कुलीन ब्राह्मण की युवती मिल रही थी। ऐसे दिव्य अवसर को कोई मूर्ख ही भले छोड़े। आदर्शवादी छोड़ सकते हैं; पर गधा-पचीसी उमर के कितने युवकों का आदर्श कामिनी और काञ्चन--वह भी विवाह में--के सम्मुख ठहर सकता है? युवती बंगालिन के बालों में युवक का मन उलझ गया। विवाह हो गया और वह वहीं रहने लगा।

नई उमर और नया विवाह--गिलोय और नीम चढ़ी। वह युवक घर वालों को बिलकुल भूल गया। नवीन जीवन का जादू चढ़ गया। रहते रहते उसे वहाँ कई महीने हो गए। एक दिन बूढ़ा और उसका दामाद बैठे हुक्का पी रहे थे कि सामने से एक आदमी आता दिखाई पड़ा। दूर से ही उस आगन्तुक ने कहा, "अरे बुलाकी, कहाँ?" उस आदमी को देखकर बुलाकी का रंग पीला पड़ गया, और संकेत से उसे अलग ले जाकर कहने लगा, "पण्डित जी पाय लागूं मोपे बड़ो कसूर बनि गयौ है। अब हूँ गाम जाइबे लाइक ना

रहौ । जाँ मैंने एक बिरामन (ब्राह्मण) की लरकिनी सूँ (से) बिग्राउ कल्लग्रोऐ ।"

पण्डित जी--"तउग्रा वारे तैंने बड़ो पाप करौ ।"

बुलाकी--"का करूँ ग्रब तो फँसि गयौ । घरै ग्राइबे लायक ना रहौ । हूँ तुम्हें बैठारि हूँ न सकतु । पालागें ।"

बूढ़े ने ग्रागन्तुक ग्रौर ग्रपने दामाद की बातें तो नहीं सुनीं पर उनकी चेष्टा से उसे कुछ दाल में काला जरूर मालुम हुग्रा । जैसे ही उसका दामाद लौटकर ग्राया वैसे ही खेत पर जाने के वहाने से बूढ़े ने लकड़ी उठाई ग्रौर खेत की ग्रोर गया; पर चक्कर काटकर उसने उस ग्रागन्तुक को जा पकड़ा ग्रौर पूछा--

"तुमसे ग्रौर तुम्हारे देश वाले जबान से क्या बातें हुई ?"

ग्रागन्तुक--"क्या करोगे पूछकर ।"

बूढ़ा--"कूछ हर्ज है बताने में ?"

ग्रागन्तुक--"वह जात का नाई है । यहाँ ब्राह्मण बनकर एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर लिया है । मैंने इसीलिए उसे फटकारा था ।"

लौटकर बूढ़ा घर ग्राया उसके चेहरे पर क्रोध-मिश्रित हास्य था । ग्रपने एक हाथ को दूसरे हाथ पर इस प्रकार चलाते हुए जैसे नाई उस्तरे को बटटी पर चलाता है बोला--"तुम ग्रपनी जात बदल कर ग्रौर धोखा देकर हमें ठगना चाहते थे । सो तुम नहीं कर पाये । तुमी ऐमुन तैमुन (एक हाथ दूसरे पर उस्तरे की भाँति करते हुए) तो ग्रामी (मैं) तिरिकिटिता ।"

बूढ़े ने ऐमुन तैमुन कहने में एक हथेली पर दूसरा हाथ उस्तरे की भाँति चलाया ग्रौर तिरिकिटता कहने में ग्रपना सीधा हाथ बाईं बाँह पर होकर छुरी की भाँति तेजी से उंगलियों तक फेरा जैसे छुरी से बाँस की पच्चटें काटते हैं ।

: दस :

जीत की हार

(श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

अगाध जल में एक बार डूबकर, फिर प्रवाह के ऊपर आकर जब कोई बह चलता है, तो संसार उसे किसी न किसी प्रकार कहीं देख तो पाता है। माना, वह बहते-बहते जीवन से दूर, जगत् से भी दूर जा पड़ता है; किन्तु जलचर, नभचर और भूला-भटका कोई मानव-प्राणी उसका परिचय तो प्राप्त कर लेता है। किन्तु त्रिवेणी अपने आपको उस निर्जीव शव से भी हीन और क्षुद्र देख रहा है। प्राय: वह संसार की ओर देखता हुआ भी उससे बिलग होकर अपनी आँखें फेर लेता है। वह सोचता है, एक बार डूबा हुआ व्यक्ति भी शव होकर कभी-न-कभी किनारे लग जाता है। किन्तु दो बार डूबकर भी जो उस पार न पहुँच सका, उसका कर्मभोग कितना प्रबल है ! और, फिर यह कितनी विचित्र बात है, यह त्रिवेणी न जीवित है, न मृत। जीवन रखते हुए भी वह निर्जीव है, और निर्जीव होते हुए भी जीवित।

तमोली के यहाँ से पान खाकर, ऊपर से सिगरेट का एक कश लेकर त्रिवेणी अपने घर की ओर लौट पड़ा। उसने चाहा जल्दी चले, किन्तु धीरे-धीरे, इतमीनान के साथ, चलता रहा। वह घर नहीं पहुँच पाया था, क्योंकि तमोली की दूकान से वह थोड़े फासले पर पड़ता था। उसके रास्ते में एक मन्दिर और पार्क भी मिलता था। वह अभी पार्क के कोने तक ही पहुँच पाया था कि उसे सुन पड़ा—"बाबू जी, ओ बाबू जी !"

त्रिवेणी खड़ा हो गया। उसने देखा, पुकारनेवाला वही बालक है, बिलकुल वही जिसे सड़क पर आता देख वह घूम पड़ा था। नंगे पैर, बदन पर एक मैला फटा कुरता और नीली ज़ीन का पुराना नेकर।

किन्तु त्रिवेणी को दूर से ही देखकर, क्षणभर में ही, बालक का भाव बदल गया। उसके मुख सर सरल हास खेलने लगा।

और त्रिवेणी ?

वह उसे इतना प्रसन्न देखकर भी अपने में तुरन्त कोई परिवर्तन न पा सका।

बालक जब बिलकुल त्रिवेणी के पास, उससे लगकर, खड़ा हो गया, तो त्रिवेणी जैसे भीतर से बाहर आकर, चकित भाषा म बोल उठा—"अरे, तू इधर कैसे आ निकला !"

"मिस्त्री ने दो कढ़ाइयाँ एक बाबू के पास रख आने को भेजा था। लौटते हुए जो तुम्हें तमोली की दूकान से वापस जाते देखा, तो मैं इधर ही, पीछे-पीछे, चला आया।"

त्रिवेणी कुछ बोला नहीं। हाँ, उसे अपने बदन से चिपकाकर उसके सिर पर हाथ अवश्य फेरने लगा।

तब बालक ने धीरे-धीरे, लजाते-लजाते, साहस करके, कह दिया—"दो पैसे दे दो बाबू!"

"क्या करेगा पैसा लेकर?" कहकर त्रिवेणी ने उसकी ठुड्ढी पकड़कर ज़रा ऊपर को उचका दी।

"पान खायेंगे, और सिगरेट पियेंगे।" उत्तर के साथ उत्फुल्ल बालक की दंत-पंक्ति झलक उठी।

त्रिवेणी ने एक चवन्नी उसके हाथ पर रख दी।

बालक तुरन्त अत्यधिक उत्साहित, अकल्पित अनुप्राणित होकर चलने लगा, तो त्रिवेणी ने कहा—"मिठाई भी खा लेना गोपाल, भला!"

इस बालक से सम्बन्ध रखने वाली त्रिवेणी के जीवन की एक कथा है।

त्रिवेणी उस समय विधुर था। उसकी स्त्री का स्वर्गवास हुए दो वर्ष व्यतीत हो चुके थे। उसने सोचा था, अब दूसरा विवाह नहीं करेगा; क्योंकि स्त्री विधवा हो जाती है, तो हिन्दू-समाज उसे दाम्पत्य-सुख से सदा के लिये वंचित कर देता है, और पुरुष जब विधुर हो जाय, तो उसके लिए भी इसी प्रकार का कोई बंधन होना चाहिये।

किंतु यह उत्तर केवल मित्रों के आग्रह का समाधान करने के लिए होता था। असल बात और थी, और चाहे न भी हो, पर उसके सोचने का ढंग जरूर दूसरा था। वह सोचता था--जब नंदिनी चली गई तो अब दूसरा विवाह करके फिर एक नवीन संसार वह कैसे बनाये ?

दिन चल रहे थे। दिन तो चल रहे थे, पर त्रिवेणी जीवन से उत्तरोत्तर विरक्त होता जा रहा था। घर पर उसे कोई काम नहीं करना पड़ता था। पिता नगर के सूत-बाजार के प्रतिष्ठित दलाल थे। उनकी आय निर्वाह-भर के लिए यथेष्ट होती थी। यह दारुण आघात त्रिवेणी की आत्मा पर इतनी गहराई से अंकित हो चुका था कि संसार की किसी भी वस्तु से उसका कोई संबंध नहीं रह गया था। उसकी मां जब बहुत आग्रह करती तो भोजन कर लेता। उसका सूखा, मुरझाया और पिचका हुआ मुख देखकर उससे आधी बात करने का भी किसी को साहस न होता था। कभी-कभी कई

दिन तक वह घर के बाहर रहता । कभी पार्क में सो रहा, तो कभी किसी मित्र के यहाँ । किसी ने खिला दिया, तो खा लिया, अन्यथा पूरा उपवास कर गया । लेटा है, तो दस-दस, बारह-बारह घंटे लेटा ही है । कोई कुछ पूछता, तो उत्तर दे देता, पर अपनी ओर से किसी से बात न करता था ।

लेकिन मनुष्य इस तरह कितने दिन तक रह सकता है ? इस तरह का व्यक्ति या तो महाप्रस्थान की ओर बढ़ जायगा, या किसी-न-किसी दिन प्रतिक्रिया के प्रणय-पाश में पड़कर कुछ-का-कुछ हो बैठेगा । जीवन रहते नवल भावनाओं के मृदुल दोलन से अपने आपको सर्वथा अक्षुण्ण कैसे रख सकेगा ?

× × ×

संयोग की बात, एक दिन त्रिवेणी केदार के घर जा पहुँचा । उसके साथ उसका दूर का नाता था । उसकी नवभार्या नंदिनी की चचेरी बहन थी । उसका नाम था रामकली । त्रिवेणी उससे परिचित था । ससुराल में भी वह कली कहकर उसे पुकारता आया था; क्योंकि उन दिनों वह एक अबोध बच्ची थी ।

पर कली अब वह कली न रह गई थी । अब वह खिल चुकी थी । तो भी उसके लिए नाम तो उसका कली ही था । त्रिवेणी ने अनेक वर्षों बाद जो उसे देखा तो चकित हो उठा ! बोला—"अरे ! मैं तो समझा बैठा था कि तू वही, उसी तरह की नन्ही-सी कली होगी । प......"

इसके बाद उसकी वाणी अटक गई। आगे की बात जैसे पर लगाकर उड़ गई।

केदार बोला––"अहोभाग्य ! आपने मेरी इस झोपड़ी में आने की कृपा तो की।" और, कली पहले थोड़ी शरमाई, जरा झिझकी किंतु उसके अधरपल्लव वांछा-हीन होते हुए भी उन्मीलित हो ही गये। आदर-पूर्वक उसने त्रिवेणी को आसन दिया, और कहा––"कहाँ भूल पड़े जीजा ?"

त्रिवेणी कली की ओर एकटक देखता रह गया। वह कोई उत्तर न दे सका।

कली उस पर पंखा झलने लगी।

केदार और कली, दोनों ने सुन रक्खा था, त्रिवेणी पत्नी के वियोग में विरक्त हो गया है, यहाँ तक कि उसके जीवन का क्रम टूट चुका है। अतएव अनायास उसे सामने पाकर दोनों ने आत्मीयता के साथ स्वागत किया।

केदार उसके लिए मिष्टान्न ले आया। कली ने तश्तरी में कायदे से सजाकर, शीशे के गिलास में बरफ के ठंडे पानी के साथ, सामने रखते हुए विनय-पूर्वक कहा––"हम आपके स्वागत-सत्कार के योग्य नहीं। फिर भी जो कुछ है, विदुर का-सा मानकर कृपया स्वीकार कीजिये।"

केदार बोला––"मैं क्या जानता नहीं कि आप क्या-से-क्या हो गये हैं ! चाचाजी से रत्ती-रत्ती समाचार मिलता रहता है।

लेकिन किया क्या जाय, आपके उस दु:ख की पूर्ति तो अब संभव नहीं। जैसे बने, अपने को धैर्य के सहारे फुसला-फुसलाकर रखना है। फिर अभी आपकी उम्र ही क्या है!"

कली दामिनी-सी धवल दंत-पंक्ति झलकाकर, साड़ी का छोर भाल-बिन्दु तक खिसकाती हुई, मदिर हास के झकोर में, मंद स्वर से बोली—"इन्हें बात करने का भी शऊर नहीं है जीजा! देखो, क्या-से-क्या कहने लगे!...खैर तुम जलपान करो जीजा, इनकी बातों में न पड़ो।"

केदार ने, जान पड़ता है, कली की बात सुन ली, इसलिये हँसता हुआ बोल उठा—"देखा आपने? यह हमें इसी तरह पागल बनाया करती है। कहती है—तुम्हें शऊर नहीं। भला, आप ही बतलाइये, आप तो पढ़े-लिखे होशियार व्यक्ति हैं, अभी हमने आपसे ऐसी कौन-सी बात कह दी, जो बेजा हो।"

"तुम शुरू करो जीजा। हाँ-हाँ इनकी बातों में मत पड़ो।" उसी प्रकार अतिशय मंद स्वर में, हौले-हौले हँसती हुई कली बोली।

त्रिवेणी की जैसे आँखें खुल गईं। जैसे अभी तक वह सोता ही रहा हो और उसे यह बोध ही न हो सका हो कि संसार कितना विस्तृत है। आज उसे प्रतीत हुआ कि एक-न-एक अभाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। वह अपने ही अभाव के लिए रोता है, किन्तु जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है, उधर प्रत्येक

का अभाव अलग-अलग स्पष्ट झलकता हुआ प्रतीत होता है। कली ने केदार को पाकर जो कुछ भी पाया है, उसके सामने है किन्तु सब कुछ पाकर भी जो कुछ वह उसमें नहीं पा सकी, उसे भुलाकर वह रह नहीं सकती। हँसती-हँसती उसे कह डालती है, क्योंकि इस रंध्र को उसे अपने निभृत निलय में पालकर, सुलाकर नहीं रखना है। तभी तो वह खुद ही कह डालती है– "इन्हें बात करने का भी शऊर नहीं है जीजा ! देखो, क्या-से-क्या कहने लगे।" क्योंकि वह जानती है कि जो पत्नी-वियोग से व्यथित है, विदग्ध है, उससे यह बात नहीं कहनी चाहिए कि अभी उसकी उम्र ही क्या है ! और तमाशा यह कि केदार बनता चतुर है, और फलतः भार्या की उपर्युक्त बात पर चिड़ता भी नहीं है, तो भी वह इतना ही नहीं जानता कि उसकी बात में असंगति क्या है।

त्रिवेणी यही सोचता हुआ जलपान करता रहा। न तो उसने केदार की बातों का समर्थन किया, न कली के विचार का अनुमोदन ! हाँ, अपलक दृष्टि से वह कली की मुद्रा में उसके अंतस्तल का प्रतिबिंब अवश्य देखता रहा।

थोड़ी देर में त्रिवेणी जब दूसरे कमरे में चला गया, तो उसने देखा, केदार कुछ गम्भीर हो गया है। तब उसके मन में आया कि वह उससे कुछ बात करे।

उधर केदार घूम-फिर कर बारंबार यही सोचने लग जाता

कि त्रिवेणी जो आज यहाँ टिक गया, तो !

वह उस प्रकार का व्यक्ति है, जो आज को उस कल की तराजू से तौला करते हैं, जो भविष्य-निकट भविष्य--का है। शिष्टाचार और आतिथ्य की मर्यादा वह समझता है। अवसर आने पर बर्तन बेचकर भी वह आगत का स्वागत-सत्कार करने में कभी चूक नहीं सकता। और, इसीलिए सोचने का खाता लिखते समय वह रोकड़ बाक़ी तक लिख कर ही दम लेता है। वह मानता है कि समक्ष को देखना ही यथेष्ट नहीं, वह तो अपूर्ण देखना हुआ। अरे भाई, जब देखना ही है, तो देखते क्षण हमें पृष्ठ भाग भी देख लेना चाहिए।

एक ज़माना था, जब जिम्मेदारी के जीवन में पैर रखते ही उसे आश्रयस्थल मिल गया था। वह इन्कमटैक्स के दफ्तर में साठ रुपये महीने की नौकरी पा गया था। उस समय किसी प्रकार उसका निर्वाह हो जाता था। बचाने के संबन्ध में कभी उसने गहराई के साथ विचार नहीं किया, क्योंकि वह मानता था कि मध्यम श्रेणी का नागरिक सौ रुपए महीने से कम की आय में कुछ संग्रह कर सकने का स्वप्न नहीं देख सकता। अतएव नौकरी छूटने के बाद वह बराबर घर की पूँजी का उपयोग करके काम चलाता रहा। तभी तो आज उसे सोचना पड़ा कि त्रिवेणी आज उसके घर ठहर गया, तो !

त्रिवेणी ने कमरे में पहुँच कर, पलँग पर बैठते ही पूछ लिया, "आजकल क्या करते हो केदार भाई ?"

अलमारी की एक पुस्तक उठाकर उसे फिर उसी स्थान पर रखते हुए केदार ने उत्तर दिया--"क्या करूँ, क्या न करूँ, यही सोचा करता हूँ ।"

"तो काम कैसे चलता है ?"

"कैसे बताऊँ !"

त्रिवेणी अब तक जसे सोता रहा हो । वह इससे पहले यह जान ही न सका कि जीवन-संघर्ष भी कोई वस्तु है । मानो यही समझता आया हो कि प्रत्येक व्यक्ति इतना समर्थ और सौभाग्यशाली होता है कि उसके यौवन-काल में भी पिता या भाई ही रुपया-पैसा पैदा करते हैं, और तब तक वह सर्वथा स्वतन्त्र रह सकता है जब तक आप-ही-आप उसके समक्ष यह समस्या उपस्थित नहीं हो जाती कि अब तो हमें कुछ करना ही पड़ेगा ।

केदार कभी त्रिवेणी के पास बैठता, और कभी अन्दर जाकर भार्या से बातें करने लगता । वह खुद भूखा भी रह सकता था, किन्तु ऐसे संभ्रांत अतिथि को भूखा कैसे रखता ? जब वह और देर तक अपने संकल्प, विकल्प को कली से छिपाकर न रख सका, तो उससे पूछ ही बैठा--"यह अगर आज रह गए, तो ?"

विवण होकर कली ने कह दिया—"आज का काम चल जायगा ।" किंतु उसके इस उत्तर का केदार के मुख पर जो उत्फुल्ल भाव झलक उठा, कली ने ज्यों ही उसे ग्रहण कर पाया, त्यों ही उसने कह दिया—"किन्तु कल भी अगर उन्होंने रहना चाहा, तो ?"

"कल भी अगर उन्होंने रहना चाहा, तो ?" मन-ही-मन केदार उसकी यह बात दोहराकर अग्नि की चिनगारी से जैसे चहक गया हो ! किन्तु वह क्षण मूक रहकर सोचने का न था, इसलिए तुरन्त उसने कह दिया—"तो आगे का प्रबन्ध आज ही कर लेना चाहिए ।"

कली ने अँगूठी उतार कर उसके हाथ पर रख दी । वह बोल न सकी । उसे प्रतीत हुआ, जैसे उसके भीतर हृत्पिंड से लेकर कंठ तक एक पाषणशिला अटक गई है । कारण, यह उसका अन्तिम स्वर्णाभरण था ।

केदार अँगूठी जेब में डालकर घर से बाहर हो गया ।

× × ×

त्रिवेणी के जीवनव्यापी अन्धकार को एक बार फिर आलोक ने पराजित कर पाया है । वह सदा उल्लसित, उत्साहित दीख पड़ता है । केदार के सहयोग में वह स्त्री बच्चों के सिले-सिलाए अलंकृत कपड़ों का व्यवसाय करता है ।

कली सिलाई, कटाई और क़सीदे का काम बहुत अच्छा जानती है। कुछ कारीगर नौकर रख लिये गए हैं। बूटे काढ़ने और सिलाई करने की तीन मशीनें उसके घर सोलह-सोलह घंटे चला करती हैं।

त्रिवेणी अब कई-कई दिन तक अपने घर नहीं जाता। घर जाने की उसे फुरसत ही नहीं मिलती, जाय कैसे? उसके माता-पिता भी यह जान कर निश्चिंत रहते हैं कि वह किसी तरह प्रसन्न तो रहता है। माना, वह विवाह नहीं करना चाहता, लेकिन इससे क्या? अपना-अपना विचार और भाव ठहरा। जब वह किसी प्रकार इस बात पर राज़ी ही नहीं होता, तो किया क्या जाय? इस सम्बन्ध में उसके साथ ज़बरदस्ती भी तो नहीं की जा सकती!

केदार छाया की भाँति त्रिवेणी का साथ देता है। उसने अनुभव किया है कि किसी के साथ आत्मीयता हो, तो ऐसी––उज्ज्वल और स्वार्थ-हीन। देखो तो इस व्यक्ति ने उसके वैसे संकुचित और क्षुद्र जीवन को कहाँ लाकर पहुँचा दिया। कली के वे आभूषण, जिनको बंधक-जीवन से छुटकारा मिलना कभी सम्भव न था, फिर लौट आए। किराए का मकान तक अपना हो गया। यह सुख, संतोषमय जीवन एक त्रिवेणी ही के द्वारा तो उसे प्राप्त हुआ।

उधर कली के जीवन में एक नया अध्याय आ गया है।

किसी काम के लिए जब वह त्रिवेणी से कुछ कहती है, तो वह तत्काल, सबसे पहले, कर डालता है। कली सोचती रह जाती है कि यह त्रिवेणी कितना ऊँचा व्यक्ति है! अह! मनुष्य में इतना सौहार्द भी संभव है!

आश्विन-मास के दिन थे। केदार कहीं बाहर गया हुआ था। कई दिन के ज्वर के बाद त्रिवेणी उस दिन कुछ स्वस्थ हो पाया था। उस समय उसके सिर में थोड़ा दर्द थां। कली अपनी ही तबियत से उसके सिर में तेल मलने लगी।

इस अवस्था में त्रिवेणी को एकांतवास का जो अवसर मिला, वह उसके लिये विष बन गया। कभी-कभी अवसर निकाल कर वह सोती हुई कली के निकट जाकर खड़ा हो जाता, देर तक उसके अभिराम रूप को, उसके अप्रतिम अंग सौभाग्य को एक ओर खड़ा चुपचाप देखता रहता, किन्तु आत्मविस्मृत होना तो दूर, कभी न जरा आगे बढ़ता, न उस प्रकार का कोई शब्द मुँह से बाहर आने देता।

संयोग की बात, उसके जीवन में यह सोने का क्षण भी आ गया। कली का कोमल अंगुलिस्पर्श पाकर वह कृतार्थ हो गया। थोड़ी देर बाद, करवट बदल कर, वह कली की ओर अपलक दृष्टि से देखने लगा।

उसी क्षण कली ने पूछ लिया--"सिर का दर्द अब कुछ कम हुआ?"

त्रिवेणी अपने ऊपर के अधिकार से, आप-ही-आप, अनपेक्षित, अवश रूप से खिसक पड़ा, बोला—"सिर का दर्द तो अच्छा हो गया।"

कली कुछ विस्मित हो उठी। बोली—"तो क्या और भी कहीं दर्द है? तुम इतना संकोच क्यों करते हो? मुझे तुम्हारे हाथ-पैर दाबने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।"

जिह्वा को दंत-पंक्तियों के बीच दबाकर त्रिवेणी बोला—"तुम यह कहती क्या हो कली? छिः! छिः!"

"तो?"

"जाने दो उस बात को; मैं बिलकुल अच्छा हूँ। कहीं कोई भी दर्द-वर्द नहीं।"

मदिर हास के झकोर में कली बोली—"अब समझी। तुमने पागलपन की बात सोच डाली। राम-राम? ऐसा भी कोई सोचता है? मैं तुम्हें देवता की तरह पूजनीय मानती हूँ।"

पराजित त्रिवेणी ने तब झट से उठकर कली के चरण छू लिए। बोला—"मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ कली? सचमुच मेरे मन में दूसरा भाव आ गया। तुम्हारी इस मनोहर रूप-माधुरी और इन कमल-लाल-सी कोमल उँगलियों के अकल्पित स्पर्श ने मेरे भीतर एक ज्वालामुखी धधका दिया।"

"तुमने मुझे मार डाला? मैं तो तुम्हें वंदनीय मानती थी। मैं नहीं जानती थी, तुम्हारी इस पवित्र आत्मा के भीतर

भयानक विषधर सो रहा है। तुमने यह न सोचा कि मैं हिंद नारी हूँ, स्वामी ही मेरा सब कुछ है। दूसरे की ओर आँख उठाकर देखना भी मेरे लिए मृत्यु है। ...तुम अपनी इस सारी संपत्ति को ले जाओ जीजा ! मुझे एक पाई न चाहिए। कहकर अतिशय उत्तेजित होकर कली वहाँ से उठकर चल दी।

त्रिवेणी बहुत अशक्त हो गया था। उठ कर वह कहीं जा नहीं सकता था। तो भी उसने चल देने की दृढ़ चेष्टा की। किसी तरह सीढ़ी से नीचे उतर आया, किन्तु द्वार से आगे न बढ़ सका, लड़-खड़ा कर गिर ही पड़ा।

नौकरानी ने कुछ गिरने के शब्द के साथ जो त्रिवेणी के कराहने का शब्द सुना, तो देखा, बड़े बाबू गिरे पड़े हैं। वह चिल्ला उठी—"अरे बहूजी देखो तो, बड़े बाबू यहाँ गिरे पड़े कराह रहे हैं।"

कली दौड़ती हुई तुरन्त नीचे आई। नौकरानी ने भी सहारा दिया, तब कहीं दोनों मिलकर बड़ी कठिनाई से त्रिवेणी को ऊपर ला सकीं।

त्रिवेणी की साँस फूल आई थी। चाहते हुए भी वह कुछ कह न सका। किन्तु वह समर्थ होता, तो इतना ज़रूर कहता—"मुझे उठाओ मत कली, यहीं पड़े-पड़े मर जाने दो। मैं तुम्हारी सहानुभूति नहीं चाहता, मैं तो एकमात्र तुम्हारी घृणा का ही पात्र हूँ।"

त्रिवेणी का घुटना छिल गया, उसकी कमर में भी चोट आ गई। कली ने डाक्टर बुलवाकर उसे दिखलाया, खुद दवा बांधी, सेंका, और यथाविधि उसका उपचार किया। अधिकार-पूर्वक उसने उसे भरसक आराम दिया। कई दिन तक रात-दिन उसके पास बैठी रही। पचासों प्रकार की बातें उसने उससे कीं। घुमा-फिराकर उसकी पराजित आत्मा को भी उसने उल्लसित किया, यहां तक कि त्रिवेणी उस आघात को भी भूल-सा गया, उसने अन्त में यह भी कह डाला—"तुमने मुझे क्षमा कर दिया कली। चलो यह बहुत अच्छा हुआ। मैं तो जैसे जी गया।"

कली बोली—"तुम सोचते हो, तुम एकमात्र अपने ही हो। किन्तु तुम यह क्यों नहीं सोचते कि जितने तुम अपने हो उससे कुछ कम या अधिक, थोड़े-बहुत मेरे भी तो हो। तुम अपने ऊपर अन्य सभी प्रकार का अन्याय और अत्याचार कर सकते हो किन्तु पतन की ओर नहीं जा सकते। जीजा, तुम मेरी आशाओं के बंदी हो। तुम चल सकते हो, किन्तु तुम गिरने नहीं दिए जा सकते। तुम तो आगे रहने वाले व्यक्ति हो। बीच में तुम्हारे लिए स्थान कहाँ है?"

प्रतिहत, पराजित और द्रवीभूत त्रिवेणी बोला—"अपने इस विवेक में से थोड़ा मुझे भी दे दो, कली।"

"उलटी बात मत कहो जीजा! कली तो त्रिवेणी की सलिल-

राशि पर ही तैरती रहती है। उसने जो कुछ भी पाया है, उसी संगम का तो है। उसका अपना क्या है?"

"तुम देवी हो कली! देवता ही तुम्हें पा सकते हैं। तुम उस की गति से सर्वथा परे हो।"

"यह तुम्हारा भ्रम है जीजा!" कहकर फर्श कुरेदती अन्यमनस्क कली "पनडब्बा ले आऊँ" कहती हुई वहाँ से उठकर अपने आवास की ओर चली गई।

× × ×

चौक में केदारनाथ-त्रिवेणीनाथ के नाम से एक दूकान कई वर्ष से चल रही थी। किन्तु उस पर बैठता केदारनाथ ही था; बहुत कम ऐसा अवसर आता था कि त्रिवेणी को वहाँ बैठने के लिए विवश होना पड़ता हो। उस दिन संयोग की बात, वह बहुत सवेरे वहाँ जा पहुँचा, जब दूकान पर बैठने वाला नौकर जगदीश दूकान खोल रहा था। अनायास उसे कुछ पैसों की ज़रूरत पड़ गई थी। सवेरे-सवेरे जब वह सिगरेट पी लेता, तब उसका कार्य-क्रम शुरू होता था। इधर बारह वर्षों से उसकी इस आदत में कोई अन्तर न पड़ा था। संयोग से उस दिन वह बनियान पहनकर ही घर से बाहर निकल पड़ा। रुपये-पैसे कमीज की जेब में छूट गए। पर इस बात का ख्याल उसे तब आया, जब वह पान की दूकान पर जा पहुँचा। उस समय वह बिना तमोली को पैसा दिये पान-सिगरेट नहीं लेना चाहता था।

वह सोचता था कि ऐंसा न हो, तमोली की खोटी हो जाय ! तत्काल उसे ख्याल आ गया कि अपनी दूकान तो खुल ही गई है, वहीं चलकर पैंसा ले लूँ । यही सोचकर वह तेजी से अपनी दूकान पर आ गया । किन्तु पैसा माँगने पर दूकान पर बैठने वाले नौकर ने कहा--"बाबू, पैसे तो नहीं हैं ।"

त्रिवेणी ने क्रोधित होकर कह दिया —"बेवकूफ ! पैसे नहीं हैं तो, तो पैसे भुनाकर नहीं ला सकता ! गधा कहीं का !"

नौकर त्रिवेणी के इस व्यवहार को सहन न कर सका । वह दूकान बन्द कर केदार के पास दौड़ा चला गया । तब तक घूमकर त्रिवेणी भी वहाँ जा पहुँचा । कली के सामने जो सारी बातें स्पष्ट हुईं तो उसने कह दिया--"जीजाजी, यदि आप बुरा न मानें तो मैं कुछ कहूँ ।"

त्रिवेणी बोला---"कहो ।"

कली ने कहा--"सवेरे-सवेरे दूकान खोलकर, बिना बोहनी किये, नोट तुड़ाकर खर्च न करने की बात दूकानदारी के विचार से सर्वथा उचित ही है । यों दूकान आपकी, नौकर आपका । आप इसे चाहे जो सज़ा दीजिए ।"

त्रिवेणी यह अपमान सहन न कर सका । आंदोलित होकर बोला--"यह तुम्हारी क्षुद्रता है कली ! तुम रूढ़ियों की दासी हो, तुम न तो मनुष्य को पहचानती हो, न उसके प्राकृत अधिकार

को। जाओ, आज से मैं इस सारी दौलत को लात मारता हूँ। आज से मैं इस घर में पैर न रक्खूँगा।"

यह कहकर त्रिवेणी वहाँ से चला आया। केदार ने बहुत समझाया, किन्तु किसी भी प्रकार अब वह उसके साथ सहयोग करने को तैयार न हो सका।

दूसरे वर्ष--

कहावत है, पुरुष पारस होता है। त्रिवेणी केदार के घर पारस बनकर आया था। वह जब चला गया, तो अकेला केदार व्यवसाय को सँभाल न सका। उसने अपने एक निकट सम्बन्धी को भी बुलाया, किन्तु उसके द्वारा परिस्थिति और भी बिगड़ गई। उसने जी खोलकर गबन किया। केदार ठहरा सीधा-सादा व्यक्ति, बेचारा उसके विश्वास में पड़कर मारा गया। बढ़े हुए खर्चों को तो वह कम न कर सका, किन्तु आय बराबर घटती गई और एक दिन ऐसा भी आ गया कि पूँजी के अभाव में केदार को व्यवसाय बन्द कर देना पड़ा।

सुख के दिनों का अनुभव कली ने बहुत थोड़े दिन कर पाया था कि उसे दुःख के दिन देखने पड़े। त्रिवेणी की मूर्ति उसके हृदय-पटल से एक क्षण को न टलती थी। रात-दिन उसके सम्पर्क में रहते-रहते वह उसका आत्मीय हो गया था। नित्य के वार्तालाप में, विमल मन से, जब वह कली नाम में सम्बोधन

करता, तो उसका रोम-रोम विहँस उठता था। कितने भोले निर्विकार स्नेह से वह बातें करता था। घंटों बातें-ही-बातें हुआ करतीं, तो भी वह न थकती, न ऊबती। बीच-बीच में, दो-दो, तीन-तीन घंटों के अंतर से ही, चाय, मिठाई, फल और पान-सिगरेट का क्रम कभी भंग ही न होने पाता था। सिनेमा-सरकस, मेला-प्रदर्शनी से लेकर खान-पान तक तो साथ चलता ही था। ग़रज कि त्रिवेणी हौले-हौले उसके हृदय-तल में बस गया था। कभी कली को यह सोचने का अवसर ही न मिला कि एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब त्रिवेणी बात-की-बात में उसे छोड़कर चला जायगा। हाय! वह यह भी तो न अनुभव करने पाई कि वह उसे कितना चाहने लगी है! और उस दिन जब त्रिवेणी उसे त्याग कर चल दिया, तो अभी कल ही जीवन उसके लिए एक स्वप्न बन गया।

किन्तु उसे स्वप्न भी कैसे कहा जाय?

स्वप्न भंग होने पर तुरन्त चेतना आती है और हम सोच लेते हैं कि चलो, कोई बात नहीं। यह सब तो एक नाटक था, एक कल्पना, अपने ही आप उठकर छलक पड़ी हुई जल-धारा की-सी एक मछली। पल-भर बाद उसका पता क्या? निरा स्वप्न ही तो है वह।

किन्तु इस त्रिवेणी को कली स्वप्न कैसे मान ले, जब कि वह अभी कल तक अपना था। वह तो उसकी जान पर आ गया है, उसकी छाती पर सवार है, वह स्वप्न कैसे है?

नहीं, किसी प्रकार वह स्वप्न नहीं हो सकता । वह तो सत्य है---अमिट सत्य ।

देर तक यही सब सोचती हुई कली एक दिन रो पड़ी ।

हम प्राय: इस बात का दावा किया करते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं---दूरदर्शी इतने कि सदा कोसों आगे का पथ देखते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं रह सकती । किन्तु हाय ! कभी-कभी हम इतने भ्रम में रहते हैं कि यह भी नहीं जान पाते कि हम किसीको किस हद तक चाहने लगे हैं ।

कली की भी यही गति हुई । वह यह जान ही न सकी कि वह अपने आपको खो रही है । और आज जब उसके जीवन के अभावों ने उत्थित होकर अपने पैर फैला दिये तब वह यह सोचती रह गई कि अरे, यह क्या हो गया ! जिस वस्तु की उसने इतनी रक्षा की, आखिरकार उसे एक चोर चुरा ही ले गया । अब ?

कली का रहन-सहन भी अब बदल गया था । कई-कई दिनों तक वह एक ही साड़ी पहने रहती । न साबुन से शरीर मलकर स्नान करती, न केशों में तेल कंघी का स्पर्श होने देती । खुली, बिखरी, शुष्क कुन्तल-राशि उसके शिथिल गात पर पड़ी रहती, उसका वक्ष भी कभी-कभी दिगम्बर बन जाता । किन्तु कली अपने इस स्वरूप को जैसे देख ही न पाती थी ।

अब कभी-कभी स्वामी के साथ कली की खटपट भी हो

जाती। कारण, यह निर्मम दरिद्रता एक दृष्टि से जैसी पाप-नाशिनी और पुण्यमयी है, दूसरी दृष्टि से उससे भी अधिक कुलटा, कुभाषिणी और कलमुँही भी है। तभी तो केदार में वह पुराना मर्ज फिर उभर आया। वह फिर असंगत बातें बकने लगा।

एक दिन त्रिवेणी की बात उठते ही वह आग हो गया। बोल उठा--"तो वह तेरा स्वामी था। मैं कोई नहीं हूँ। मैं तो श्वान हूँ--एक-एक टुकड़े के लिए दूसरों का मुँह ताकने को मजबूर! आज मालूम हुआ, इस दुर्दशा का तुझे दुःख नहीं है। तुझे त्रिवेणी के वियोग की ही व्यथा है।"

कली ने उस दिन तक के जीवन में कभी केदार के मुँह से ऐसे कटु वचन नहीं सुने थे। वह तो उसे एक सीधा-सादा, सात्त्विक और वरेण्य स्वामी मानती थी। किन्तु अब उसे प्रतीत हुआ कि वह तो पिशाच है। तभी उसके लम्बे-लम्बे, पैने नखों ने उसका हृत्पिड तक विदीर्ण कर डाला।

कली उस दिन रो न सकी। दारुण आघात आँसुओं तक का अपहरण कर लेता है।

किन्तु चांडालिनी आपत्तियाँ आखिरकार हैं तो आपस में सगी बहन ही। एकाएक कली अस्वस्थ हो गई और उन्हीं दिनों उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कली यह सोचती ही रह गई--काश ऐसे समय त्रिवेणी उसके घर होता, उसके वे स्वर्ण-दिवस होते...।

और दुर्दशा-ग्रस्त काल में पुत्र जन्म ? दैन्य को पाकर, सौख्य-वृद्धि न करके, वह तो और भी अधिक उत्पीड़ित हो उठता है।

केदार की बहन ने आकर किसी प्रकार उस नवजात शिशु का पालन किया। उसकी गोद में एक बच्चा था। वह उसे दूध पिलाती ही थी, इस बच्चे को भी पिलाने लगी। वह उत्तरोत्तर पनपता गया। किन्तु कली की अस्वस्थता उसका शुष्कप्रशांत मानस पाकर क्रमश: इतनी बढ़ गई कि अन्त में केदार को उसके स्वास्थ्य लाभ के लिए ज़नाने हास्पिटल की शरण लेनी पड़ी।

त्रिवेणी केदार का गृह त्यागकर फिर कानपुर में रह नहीं सका। कलकत्ते में उसका बहनोई सूत का व्यापार करते थे। त्रिवेणी कलकत्ता जाकर उन्हीं के साथ रहने लगा।

गिरधारी बाबू थे रिसे-घिसे आदमी, सांसारिक अनुभव में ही उनके बाल सफेद हुए थे। दस-पन्द्रह दिनों के ही सम्पर्क से उन्हें त्रिवेणी का यथार्थ परिचय मिल गया। वह यह जान गये कि है तो यह काम का आदमी व्यवसाय की नीति को समझता ही नहीं, उसकी तह तक पहुंच जाता है। किन्तु अपने इस गुण के साथ ही उच्छृंखल प्रकृति में भी वह कम अग्रसर नहीं। किसी भी दिन नौ-दो ग्यारह हो सकता है। उन्होंने एक दिन—जब दोनों खाना खाकर उठे, पान खाए गए और सिगरेट के दो-दो कश

लिए जा चुके—यों ही हंसते-हंसते कह डाला--"भाई इस तरह नहीं चलेगा। यों चलने को चल भी सकता है, पर मैं यह नहीं चाहता कि एक दिन तुम यहाँ से रफूचक्कर हो जाओ और अवसर आने पर किसी से भी कह सको कि इतने दिन मैंने जीजाजी के साथ काम किया, पर पैसे के नाम पर फूटी कौड़ी का भी स्पर्श नहीं किया। यों रहने को यह तुम्हारा घर है, पर घर में भी तो इस तरह काम नहीं चला करता। वेतन के रूप में न सही--क्योंकि तुम मेरे यहाँ नौकरी तो भला क्या करते?--एक साझेदार के रूप में ही सही, मैं तुम्हें बिना एक दमड़ी भी लगाये इस दूकान में पाँच आने की पत्ती देता रहूँगा।"

त्रिवेणी ने बहुत कुछ इधर-उधर किया, किन्तु गिरधारी बाबू साफ तबियत के आदमी थे, टस-से-मस न हुए।

इस प्रकार त्रिवेणी के निर्वाह की समस्या तो अपने आप हल हो गई। अब रह गई बात जीवन और उसके भीतर से उमड़ते हुए अभियोग की।

त्रिवेणी हठी व्यक्ति है, दुस्साहसी एक नंबर का। कोई भी काम वह पलक मारते कर सकता है। वह क्षमा बहुत कम माँगता है। माँगता है तो उसका आडंबर नहीं रचता। सच्चे हृदय से माँगता है, और फिर तदनुरूप आचार-व्यवहार रखने की चेष्टा भी करता है। किन्तु अपने आप झुककर किसी को क्षमा करना तो वह कतई नहीं जानता। और

उन दशाओं में, जबकि वह जानता है कि उसकी गलती नहीं है, वह अपने प्यारे-से-प्यारे के आगे भी झुक नहीं सकता। जो प्यारा है, उसके आगे उठना क्या, और झुकना क्या—यह विचार उसके मन में कभी नहीं आया। न कभी इस पर विचार करने का उसे अवसर मिला। अतएव इस विचार से अगर कोई उसे निर्मोही कहना चाहे, तो यह उसकी इच्छा पर है। वह चाहे, तो उसे ऐसा कह भी सकता है।

तो इस अर्थ में त्रिवेणी पाषाण से भी अधिक कठोर है।

किन्तु यह त्रिवेणी आज तक का है। आगे का जो त्रिवेणी है, ज़रा-सा इसको भी देखा न जाय।

रात को बारह बजे से पहले वह घर नहीं लौटता, और दिन को बारह बजे से पहले घर से निकलता नहीं। बारह से छः बजे तक घनघोर व्यस्तता—दूकानदारी। फिर सिनेमा-थिएटर, ताश-कैरम, गाना-बजाना, नशा-पानी, बहस-मुबाहसा और गाली-गलौज।

घर के सम्बन्ध में गिरधारी बाबू ने जो कभी पूछ दिया, तो चौकन्ना होकर उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखता और चुप। इच्छा हुई तो कह दिया, मुझे नहीं मालूम; नहीं तो इसकी भी ज़रूरत क्या? बेकार की बात का जैसा कहना, वैसा न कहना। गरज़ कि अगर गिरधारी बाबू ने ही लिख

दिया कि त्रिवेणी मजे में है, तो उसके माता-पिता भले ही थोड़े निश्चित हो जायें, अन्यथा वह अपने मन से उन्हें एक शब्द तक नहीं लिखता।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यह बात क्या है ?

हाँ, है बात। और वह यह कि जो किसी ने कानपुर नगर का नाम भी ले लिया, तो त्रिवेणी का हृत्पिड घड़ी के पेंडुलम-सा डोल उठता है। वे सड़कें, वे मकान, वह पान की दूकान जहाँ से वह नित्य पान खाता और सिगरेट पीता था; वे गलियाँ, जहाँ से वह निकलता था; वे सिनेमा-हाउस, जहाँ वह कली को साथ लेकर उसे सिनेमा दिखलाने जाया करता था; वे दूकानदार, जिनसे उसका सम्बन्ध रहता था—सब-के-सब जैसे उसे काटने दौड़ते हैं। वह गिरधारी बाबू के पास लगे हुए कमरे में सोता है। उसकी बहन सुशीला जान गई है कि वह स्वप्न में भी इतना उत्तेजित हो उठता है कि चारपाई से गिर पड़ता है।

वह स्वप्न में प्रायः बर्राया करता—

"तुम इतना संकोच क्यों करते हो ? मुझे तुम्हारे हाथ-पैर दाबने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।...अब समझी, तुमने पागलपन की बातें सोच डालीं। राम-राम ! ऐसा भी कोई सोचता है।...मैं तुम्हें देवता की भाँति पूजनीय मानती हूँ।...पर तुमने तो मुझे मार डाला, यह न सोचा कि हिन्दू नारी हूँ, स्वामी ही मेरा सब कुछ है।"

स्वप्न देखने के अनन्तर वह व्याकुलता के साथ उठकर, अतिशय भाव-गर्वित होकर रो पड़ता। सिनेमा देखते-देखते भी कभी-कभी बीच में ही उठ आता। फिर चुपचाप पार्क में, एकान्त पाकर जी भर कर रो लेता, तब कहीं उसे कुछ संतोष और शांति मिलती।

दूकान में उसके नाम कभी कोई पत्र नहीं आता था। वह खुद भी कभी किसी को कोई पत्र नहीं लिखता। किन्तु तो भी डाक आते समय वह क्षण भर को सशंकित, आतुर और पता देखते क्षण चरम अधीर हो उठता। कभी-कभी तो पोस्टमैन के हाथ से इतनी जल्दी चिट्ठियाँ पाने को वह लपक जाता कि गिरधारी बाबू ताकते रह जाते। सोचने लगते, क्या बात है कि इस क्षण यह त्रिवेणी बिल्कुल बदल जाता है।

वह आजीवन शाकाहारी रहा था। किन्तु अब उसे किसी भी खाद्य और पेय वस्तु से कोई आपत्ति नहीं थी। इस दृष्टि से मानो स्वीकार मात्र ही त्रिवेणी का रूप है और अस्वीकार त्रिवेणी से भिन्न कोई वस्तु हो गई है।

दिन चल रहे हैं, और इन दिनों के साथ-साथ त्रिवेणी का स्वास्थ्य भी गिर रहा है। यद्यपि अपने आवास के आदमक़द आईने में अपने आपको सदेह देखकर रोज ही सोच लेता है कि वह ज्यों-का-त्यों बना है, उसमें कोई परिवर्तन अब तक न हुआ है, न आगे कभी सम्भव है।

त्रिवेणी ने जीवन को सदा प्यार किया है। किन्तु अब मानो उसने एक नया विचार टटोल पाया है। वह मानने लगा है कि मृत्यु भी जीवन का ही एक रूप है। तभी तो वह एक दम निर्भय हो गया है। वह खूब खाता है, खूब गाता है, खूब हँसता है। वह रोता भी है, किन्तु रुदन के खाते में वह चोर है--अपराधी, क्योंकि वह उसमें ग़बन करता है।

पागल कहीं का। ग़बन भी करने चला, तो रुदन-जैसी अशुभ और प्राण-पीड़क वस्तु का।

ऐसा है यह त्रिवेणी! आशाओं से हीन, आकांक्षाओं से परे, स्वार्थों से मुक्त, व्यथाओं का विजयी और आघातों का विध्वंसक। किन्तु यह सब सचमुच है कि नहीं, कौन जाने? हाँ, त्रिवेणी अपने आपको इसी रूप में देख रहा है।

एक दिन त्रिवेणी ने एक स्वप्न देखा। देखा, वह फिर बीमार पड़ गया है, और कली उसके सिर में तेल मल रही है। तेल मलते-मलते उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, मानो त्रिवेणी सो गया है किन्तु वास्तव में तब तक वह सोया नहीं था। उसने सो जाने की-सी चेष्टा-भर की थी। कली उठकर जाने को हुई कि सजग होकर त्रिवेणी ने उसका अंचल थाम लिया। वह बोला--"कहाँ जाती हो कली? ज़रा देर और बैठो, देखो, अभी मेरे सिर का दर्द नहीं गया।"

कली कहती है—"छोड़ो जी मुझे ! तुम्हारे सिर में दर्द-वर्द कहीं कुछ नहीं है। यह सब तुम्हारी बहानेबाज़ी है— शैतानी ! मैं क्या इतना भी नहीं जानती ?"

वह अपने अंचल को पकड़कर बलपूर्वक खींचती है और त्रिवेणी उसे छोड़ता नहीं। फलतः वह अंचल उस स्थान पर फट जाता है।

तब कली वहीं उसे ध्यान से देखती हुई बैठ जाती है। उसकी मुद्रा एकदम विवर्ण हो उठती है। वह अतिशय दुखी होकर कह उठती है—"यह तुमने क्या किया जीजा ! मेरा अंचल फट गया।"

उसी दिन पहली ट्रेन से त्रिवेणी ने कानपुर को प्रस्थान कर दिया।

× × × ×

"ये स्वप्न कोई चीज़ नहीं हैं जी ! ये सब मानवात्मा के भावोन्माद-मात्र हैं। पागल मन की चित्रित कल्पनाएँ। कहीं ऐसा भी हो सकता है कि वह...छिः छिः, कैसी अशुभ कल्पना !" त्रिवेणी रेल के रास्ते-भर यही सोचता रहा।

वह सीधा अपने घर गया। कुछ नोट उसने माँ के हाथ पर रख दिए, और बोला—'सौ रुपये-वाले हैं। यहाँ का क्या हाल चाल है ?'

प्रफुल्लित होकर माँ बोली—"चलो, तुझे कुछ समझ तो आई। मैं रात-दिन इसी सोच में रहती थी कि मेरा तिरबेनी क्या जाने किस तरह हो! लेकिन तू कुछ दुबला दिखाई देता है।"

"खाना सुशीला खुद बनाती थी कि महाराजिन?.. लेकिन मुझे हो क्या गया? तू भूखा होगा, तुझे पहले कुछ खाने को ताज़ा बना दूँ, तो और बातें फिर करूँ। अच्छा तू तब तक नहा तो सही। मैं अभी तेरे लिये हलुआ बनाये देती हूँ।"

माँ का सोया हुआ प्यार उमड़ उठा। हर्षातिरेक से उसकी आँखें भर आईं।

किन्तु त्रिवेणी का वह प्रश्न ज्यों-का-त्यों रह गया। उसे वह बिल्कुल भूल गई। तब त्रिवेणी चल खड़ा हुआ; बस, इतना कहकर कि "अभी आया।"

वह झट से केदार के यहाँ दौड़ गया।

दूर से ही उसने देखा, द्वार पर एक तरह की शून्यता छाकर रह गई है, जैसे श्मशान का-सा भयानक सन्नाटा हो। द्वार के निकट पहुँचा, तो उसे भीतर से बन्द पाया। कुंडी खटखटाई तो भीतर से एक अपरिचित-सा स्वर मिला—"कौन है?.. दद्दा घर में नहीं हैं।"

त्रिवेणी बोला—"एक बात सुन जाना।"

उत्तर—"पहले यह बतलाओ, तुम हो कौन ? मैं घर में अकेली हूँ और बच्चा सो रहा है ।"

"मैं हूँ त्रिवेणी । कलकत्ते से आ रहा हूँ ।"

"अच्छा, मैंने अब जाना । बच्चा होने के बाद से भाभी सख्त बीमार हैं और अस्पताल में हैं । दादा भी वहीं हैं ।... बैठना चाहो, तो आकर किवाड़ खोल दूँ ।"

त्रिवेणी प्रकंपित हो उठा । लौटा, तो पैर भारी हो गए । फिर साहस सृजन कर जल्दी से चल पड़ा । इक्का पाते ही उस पर बैठकर इक्केवान से बोला—"जनाना अस्पताल ।"

उस क्वार्टर में सबसे पहले उसे केदार नज़र आया—रूखे-बिखरे केश, गड्ढों में धँसी, कुछ-कुछ लाल, उनींदी आँखें और मलिन वस्त्र, नज़र मिलते ही बोल—"कैसी तबियत है ?"

केदार रो पड़ा । बोला—"अब तबियत पूछने आए हो ?"

उसके मन में आया कि कह दे ज़िद्दी, महज़ एक ज़रा-सी बात पर मरने वाले, नृशंस और हृदय-हीन । किन्तु मालूम नहीं क्यों वह इस बात को निगल गया ।

त्रिवेणी ने देखा, वह एक मामूली चारपाई पर लेटी हुई है। न वह सुमन-शोभन मुख है, न वह कोमल, मांसल देह-यष्टि ।

उसे तब वही स्वप्न याद आ गया—"तुमने यह क्या किया जीजा ! मेरा अंचल फट गया ।"

केदार भी तब तक पास आ गया ।

त्रिवेणी ने उसे भी एक नोट देकर कहा—"यह लो खर्चे के लिए, और तुरन्त सिविल सर्जन को तो ले आओ ।"

केदार आज्ञाकारी की भाँति चल दिया । इधर बहुत दिनों से सौ रुपये का नोट उसके हाथ नहीं आया था । उसे उलट-पलट कर वह मन-ही-मन सोचता रहा—

एक त्रिवेणी है संपत्ति, जिसकी चेरी है; और एक मैं हूँ जिसके पास इतना भी पैसा नहीं कि कली के लिये जी खोल कर कुछ कर सकता, जबकि मैं उसका स्वामी हूँ, और वह. . . ।

हाँ, त्रिवेणी भी उसका है । नहीं तो इस समय अकस्मात् कैसे आ मिलता ?

अच्छा, यह माना कि कली के योग्य मैं न था, इसलिए वह मुझे त्याग कर चली जा रही है । किन्तु त्रिवेणी तो उसके योग्य है । तब उसी के लिये वह क्यों नहीं जीवित रहती । मेरे लिये न सही, उसी के लिये सही ।

किन्तु त्रिवेणी ? अ: ! वह तो तीर्थ सलिल है। उसके लिये उस प्रकार कुछ सोचना भी पाप है।

केदार यही सब सोचता हुआ सिविल सर्जन के यहाँ जा रहा है। उसे आशा हुई कि कली को वह प्राप्त कर लेगा। वह जाने न पायेगी। नहीं तो यह त्रिवेणी ऐसे समय क्यों आ जाता।

× × ×

"रोओ मत कली, रोने से तो तुम्हारा जीवन और भी खतरे में पड़ेगा।"

"आह ! कैसा जीवन जीजा, तुम अब मेरे जीवन को देखना चाहते हो।"

"हाँ कली। मैं तुम्हें स्वस्थ और सुखी देखना चाहता हूँ।"

"स्वप्न है।"

त्रिवेणी ने अपने आपको बहुत रोक रक्खा था। उसे विश्वास था कि वह अन्त तक अपने को संयत रख सकेगा, किन्तु अब वह अपने को न सम्भाल सका। उसका कंठ भर आया। आँखों से आँसू निकलकर फर्श पर टपकने लगे।

धीरे-धीरे कली बोली—"मैं जानती थी, तुम आओगे। मुझे कुछ इस तरह की आशा हो गई थी। तुम्हें देखने

की मेरी बड़ी लालसा भी थी। किसी से कुछ कह भी नहीं सकती थी। कैसे तुम्हें खबर पहुँचाती ? कैसे तुम्हें बुलवाती? लेकिन वह अंतर्यामी जो हैं। तुम आप ही आप आ गए। अब मैं सुख से मरूँगी।"

त्रिवेणी की आँखें भरी ही रहीं। कली की बात का एक एक शब्द उसके प्राणों से लिपट जाता, और वह फूटकर रो पड़ता। रुदन के ज्वार में उसकी साँस ही पूरी न होती थी।

कली बोली—"तुम जो इस तरह रोए, तो मैं अपने जी की कसक भी न निकाल पाऊँगी।"

त्रिवेणी ने तब आँसू पोंछते हुए, रुद्ध कंठ से कहा—"तो अब तुम चुप रहो कली।"

वह कुछ उत्तेजित-सी हो उठी। बोली—"कैसे चुप रहूँ ? घुल-घुलकर ही तो मैं इस दशा को प्राप्त हुई। चलते-चलते जी की दो बातें भी न करूँ, अब यह नहीं हो सकता।...हाँ, तो मैं कुछ भ्रम में थी जीजा ! मैं नहीं जानती थी, तुम मेरे इतने निकट पहुँच गये हो। जब तुम चले गये, तब मेरी आँखें खुलीं। मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपने आपको ग़लत समझी थी...। याद हैं उस दिन की बातें, जब तुमने मुझसे क्षमा माँगी थी ?"

"उस दिन की याद मत दिलाओ कली !" त्रिवेणी मर्माहत होकर बोला।

कली तब और भी भाव-गर्वित हो उठी। उस क्षण मालूम नहीं, बोलने की ऐसी अद्भुत शक्ति उसमें कहाँ से आ गई थी।

वह बोली--"क्यों न याद दिलाऊँ ? वही दिन तो मेरे जीवन का सबसे सुन्दर दिन--जैसे सोने का दिन था। उस दिन को मैं भुला न सकी, किसी तरह न भुला सकी। तुमने जो अपना प्रेम भाव प्रकट किया तो मैंने अपने आदर्श के अनुसार तुम्हें तीखा उत्तर दिया। मैं तब सती-धर्म की अभिमानिनी जो थी और जब तुमने क्षमा माँग ली, तब तो मैं गर्व से जैसे फूल उठी। मैंने समझा, वह मेरी जीत है। किन्तु आगे चल कर जब तुमने अपने यथार्थ रूप का परिचय दिया, तब मैं तुम्हारे लिए तरस गई। मालूम नहीं, मैंने कितनी रातें तारे गिन-गिनकर; करवटें बदल-बदलकर बिता दीं। आखिरकार वह भी समझ गए, और एक दिन खुल पड़े। अब मैं उनके हृदयासन से भी वंचित हो गई, मैं कहीं की न रही। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह मेरी हार है।"

कली बातें करते करते अतिशय थक गई थी। उसके भाल और मुख के साथ-साथ समस्त शरीर में पसीने की लहर सी दौड़ गई। त्रिवेणी ने एक मुलायम चद्दर से उसकी देह-भर को पोंछ दिया। उसे प्रतीत हुआ कि ज्वर उतार पर है; क्योंकि उस समय उसका बदन कुछ अधिक गर्म प्रतीत हो रहा था।

कुछ स्थिर; किन्तु चेतन होकर कली बोली--"मैं नहीं जानती, धर्म क्या चीज़ है; मैं यह भी नहीं जानती कि पाप क्या चीज़ है; किन्तु मैं इतना जान सकी हूँ कि प्रेम क्या चीज़ है! उस दिन जिस भाव के लिए तुमने मुझ से क्षमा

चाही थी, आज उसी भाव के लिए मैं तुमसे क्षमा चाहती हूं। आह यहाँ बड़ा दर्द हो उठा; हाँ यहाँ।"

कली ने एक हाथ हृदय पर रख कर दूसरे हाथ से संकेत किया। त्रिवेणी ने तदनुसार उसके हृदय-स्थल को स्पर्श करके यह जानना चाहा कि दर्द कहाँ है। किन्तु क्षण-भर में ही उसे बोध हुआ कि कहीं कुछ भी शेष नहीं है सभी कुछ समाप्त हो चुका है। शेष है भी तो केवल होठों पर मंद हास और नयनों में चिर अनुरंजित अनुरक्ति।

कली का शान्ति-संस्कार कर देने के बाद एक दिन केदार मालूम नहीं, कहाँ चला गया! फिर उसका कहीं कोई पता ही न चल सका। उसका पुत्र यह गोपाल-भर रह गया है।

× × ×

और त्रिवेणी ने तब गोपाल को पुनः अपने निकट बुलाकर उससे कह दिया—"आज तुमने मुझसे पैसे माँगे, सो माँगे, पर अब कभी न माँगना। पिताजी नेत्रों से हीन हो गए, और मैं भी बहुत दिनों से बेकार हूं। कभी-कभी मेरे पास सिगरेट पीने को भी पैसे नहीं रह जाते! कभी माँग उठने पर जो मेरे पास दो पैसे भी न निकले, तो!"

: ग्यारह :

जाह्नवी

[श्री जैनेन्द्र कुमार]

आज तीसरा रोज है । तीसरा नहीं, चौथा रोज है । वह इतवार की छुट्टी का दिन था । सवेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झाँका तो देखता हूँ, मुहल्ले के एक मकान की छत पर काँव-काँव करते हुए कौवों से घिरी एक लड़की खड़ी है और बुला रही है, "कौवो आओ, कौवो आओ ।" कौवे बहुत क़ाफी आचुके हैं, पर और भी आते जाते हैं । वे छत की मुँडेर पर बैठे अधीरता से पंख हिला-हिला कर बेहद शोर मचा रहे हैं । फिर भी उन कौवों की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है । बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ ।"

देखते-देखते छत की मुँडेर कौवों से बिल्कुल काली पड़ गई । उनमें से कुछ अब उड़-उड़ कर लड़की की धोती से जा टकराने लगे । जिस पर लड़की गाने लगी—

"कागा चुन-चुन खाइयो. . . . . ।"

साथ ही उसने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़ कर नन्हें-नन्हें टुकड़े चारों ओर फेंकने शुरू किये । गाती रही—"कागा चुन-चुन खाइयो. . . . ।"

वह मग्न मालूम होती थी और अनायास ही उसकी देह थिरक कर नाच-सी जाती थी। कौवे चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी।

"कागा चुन-चुन खाइयो........।"

आगे वह क्या गाती है, कौवों के कलरव और उनके पंखों की फ़ड़फड़ाहट के मारे साफ सुनाई न दिया। कौवे लपक-लपक कर मानो टूटने से पहले उसके हाथ से टुकड़ा छीन ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे छा रहे थे, मानो वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हों। और लड़की कभी इधर, कभी उधर झूम कर घूमती हुई ऐसे लग्न भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी खत्म होने लगी। कौवे भी यह समझ गये। जब एक टुकड़ा हाथ में रह गया, तब वह गाती हुई, उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई ज़ोर-ज़ोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आसमान की ओर फेंका और बहुत से कौवे एक ही साथ उड़कर उस पर झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की हँस कर चीखती हुई सी आवाज में गा उठी—"दो नैना मत खाइयो. . .ओरे, पीउ मिलन की आस।"

रोटियाँ खत्म हो गईं। कौवे उड़ चले। लड़की एक-एक कर उनको उड़ कर जाता हुआ देखने लगी। पल भर में छत कोरी हो गई। अब अकेली उसके बीच में वही लड़की खड़ी थी। आस-पास बहुत से मकानों की बहुत-सी छतें थीं, जिन

पर कोई होगा कोई न होगा । पर लड़की दूर अपने कौवों को उड़ते जाते हुए देखती रह गई या न जाने क्या देखती रह गई । गाना समाप्त हो गया था । धूप अभी फूटी ही थी । आसमान गहरा नीला था । उसके ओंठ खुले थे, दृष्टि स्थिर थी । जाने भूली सी वह क्या देखती रह गई थी ।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जग कर अपने आस-पास के जगत पर देखा । इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा ? देखा भी हो; पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था । उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता था, यह मैं कह नहीं सकता । पर कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्त्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति चेतन हुई । और फिर बिना देर लगाये चटचट उतरती हुई नीचे अपने घर में चली गई ।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूँ, कौवे कहाँ-कहाँ उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गये हैं । पर मुश्किल से मुझे दो एक ही कौवे दीखे । क्या वे कहीं दीखते भी हैं ? वे निरर्थक भाव से यहाँ बैठे थे, या वहाँ उड़ रहे थे । वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए । उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी । मैंने सोचा कि नहीं, अपनी देह मैं कौवों से नहीं नुचवाऊँगा । छिः ! चुन-चुन कर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है ? देह मन्दिर नहीं है ? मानव देह और कौए—छिः !

जान पड़ता है, खड़े खड़े मुझे काफी समय खिड़की पर

ही हो गया; क्योंकि इस बार देखा कि ढेर के ढेर कपड़े कंधे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आगई है। इस बार वह गाती नहीं है, पर वहाँ पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है। फिर उन कपड़ों में से एक-एक को चुन कर झटक कर वहीं छत पर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाये जाते रहे, झटके जाते रहे, फैलाये जाते रहे, पर उनका अन्त शीघ्र आता न दीखा। आखिर सब खत्म हो गये। लड़की ने सिर पर आये हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अङ्गड़ाई ली, फिर सिर को ज़ोर से हिला कर अनबँधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे-धीमे वहीं डोल कर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने लाकर देखती, फिर उसी को लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले और लम्बे थे। मालूम नहीं, उसे अपने बालों पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उंगलियाँ फेर-फेर कर अपने बालों को छिटकाती रही। फिर चलते-चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेट कर झटपट जूड़ा सा बाँध, पल्ला सिर पर खींच वह नीचे उतर गई।

इसके बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कालेज में पढ़ती है। मैंने कहा—"सुनो, यहाँ आओ।"

उसने हँस कर पूछा—"यहाँ कहाँ?"

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा—"क्यों जी, जाह्नवी

का मकान जानती हो ?"

"जाह्नवी ! क्यों, वह वहां है ?"

"मैं क्या जानता हूं, कहाँ है ? पर देखो, वह घर तो नहीं है ?"

"उसने कहा—मैंने घर नहीं देखा । इधर उसने कालेज भी छोड़ दिया है ।"

"चलो अच्छा है ।"—मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला । क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या-काम है, जाह्नवी को मैं क्या—कैसे—कितना जानता हूँ । सच यह था कि मैं उसे रत्ती भर भी नहीं जानता । एक बार अपने ही घर में इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह देखा था । बताया यह गया था कि यह जाह्नवी है, और खुशी से मैंने मान लिया कि वह जाह्नवी ही होगी । उसके बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नहीं बना । पर किसी सचाई को बहनोई के मुँह से सुनकर स्वीकार कर ले तो सचाई क्या ? तिस पर ऐसी सचाई की नीरसता । पर ज्यों-त्यों मैंने उसे टाला ।

बात-बात में मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवी को जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थीं । साफ कह दो मालूम नहीं; लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं ।

इसके बाद सोमवार हो गया, मंगलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है । चौथा रोज है ।

हर रोज़ सवेरे खिड़की के पार दीखता है कि कौवे काँव-काँव छीन-झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों के मिस कह रही है--

"कागा चुन-चुन खाइयो।"

मुझको नहीं मालूम कि कौवे जो कुछ उसका खायँगे, उसे कुछ भी इसका सोच है। कौवों को बुला रही है--"कौवो आओ, कौवो आओ। आग्रह कर रही है--"कौवो खाओ, कौवो खाओ," वह खुश है कि कौए आ गये हैं और वे खा रहे हैं; कौवों को खिलाने का आग्रह-पूर्ण निमंत्रण देते हुए भी मानों उन्हें ताकीद यही करना चाहती है कि--

"ये दौ नैना मत खाइयो.....।"

जो तन चुन-चुन कर खा लिया जायगा, उसको खा लेने में ऐ मेरे कौवो ! खुशी से मेरी अनुमति है। वह खा-खू कर तुम सब निबटा देना। लेकिन भाई ! इन दो नैनों को छोड़ देना। वे निरर्थक नहीं हैं, निराश नहीं हैं। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक आस भरी है, जो पराए के बस है। वह नैना पीय की बाट में हैं। ऐ कौवो ! वे मेरे नहीं हैं, मेरे तन के नहीं हैं। ये पीय की आस भरे रखने के लिए हैं। सो उन्हें छोड़ देना।

आज सवेरे भी मैंने यह सब कुछ देखा कि कौवों को रोटी खिला कर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत से कपड़े धोकर लाई। उसी भाँति उन्हें छटक कर सखा दिया।

वैसे ही बाल बिखरा कर थोड़ी देर डोली, और सहसा ही उन्हें जूड़े में सँभाल कर नीचे भाग गई।

जाह्नवी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे खास तौर से देख लेने को कहा था, और उसके चले जाने पर पूछा था—क्यों, कैसी है ?

मैंने कहा था—"बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों ?"

"अपने बिरजू के लिए कैसी रहेगी ?"

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा—"अरे ब्रजनन्दन ! वह इसके सामने बच्चा है।"

पत्नी ने अचरज से कहा—"बच्चा है ? बाईस वर्ष का तो हुआ।"

"बाईस छोड़ बयालीस का हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाट से रहता है। यह लड़की देखो कैसी सफेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहाँ है ? यों भी कह सकती हो कि ये बेचारी लड़की बिरजू के ठाट के लायक नहीं है।"

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग थी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ, पत्नी जी की कोशिशों से जाह्नवी के माँ-बाप (माँ के द्वारा बाप से)

काफी आगे बढ़कर बात कर ली गई है। शादी के मौके पर क्या देना होगा, क्या लेना होगा, एक-एक कर सभी बातें पेशगी तै होती जा रही हैं।

इतने में सब किये-कराये पर पानी फिर गया। जब बात किनारे तक आ गई थी, तभी हमारे ब्रजनन्दन के पास एक पत्र आ गया। उस पत्र के कारण सब चौपट हो गया। और इस रंग में भंग हो जाने पर हमारी पत्नी जी का मन पहले गिर कर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा, पर वह फिर उसी पर खुश मालूम होने लगी।

मैं तो मानो इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूँ ही। कानों-कान मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह :—

पत्नी एक दिन सामने आ धमकी। बोली—"यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया ?"

मैंने कहा—"जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया, भाई ?"

"यही कि वह ऐसी है ?"

मैंने पूछा—"एसी कैसी ?"

उन्होंने कहा—"ज्यादा बको मत, जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।"

मैंने कहा कि—"अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी

नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम । लेकिन आखिर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या मालूम है, यह तो मालूम हो !"

श्रीमती जी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा--"बिरजू के पास खत आया है. सो तुमने कुछ भी नहीं सुना ? आजकल की...बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला ही हुआ कि मामला खुल गया । नहीं तो......।"

क्या मामला, कहाँ कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो पड़ा, सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता । मैंने कहा--"कुछ बात साफ भी कहो ।"

उन्होंने कहा--"वह लड़की आशनाई में फँसी थी । यह पढ़ी-लिखी सब एक जात की होती हैं ।"

मैंने कहा--"सबकी जात बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले, लेकिन असल बात भी तो बताओ ।"

"असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारी से । भली समधिन बनने चली थी । वह तो मुझे पहले से ही दाल में काला मालूम होता था । पर देखो न, कैसी सीधी-भोली बातें करती थी । वहाँ तो देर क्या थी। सब हो ही चुका था । बस लगन-मुहूर्त की बात थी । राम-राम ! भीतर पेट में कैसा कालिख रक्खे है; मुझे पता न था । चलो आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली । वह लड़की कहीं घर में आ जाती तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक न रहता ?"

मेरी पत्नी का दर्शनीय मुख क्यों—किस भाँति दिखाने लायक़ न रहता, सो उनकी बातों से समझ में न आया। उनकी बातों में रस कई भाँति का मिला। कुछ देर के बाद मैंने उनसे तथ्य पाने का प्रयत्न भी छोड़ दिया, और चुपचाप पाप-पुण्य धर्म-अधर्म की बातें सुनता रहा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि ब्रजनन्दन के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था। पत्र मैंने स्वयं देखा। उस पत्र को देखकर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो...? मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मेरे मन में उठी है, और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है, और मैं शून्य भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए हैं, उसकी ओर देखता रह गया।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-सादे ढङ्ग से उसमें यह लिखा था कि आप जब विवाह के लिए यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायेंगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है। और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिल जायगी, लेकिन विवाह द्वारा वैसी सेविका नहीं मिलनी चाहिए; धर्मपत्नी चाहिए। वह जीवन-सङ्गिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप-चाहें, आपके माता-पिता चाहें तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाह में आप

मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को रोकूँगी नहीं। अपने को दे ही दूँगी और आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी, आपकी कृपा मानूँगी, कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आप के हाथ है, जो चाहें करें।

मुझे ब्रजनन्दन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता के साथ कह दिया कि मैं यह विवाह नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझ से अकेले में यह भी कहा कि चाचा जी, मैं विवाह करूँगा ही नहीं। करूँगा तो उसी से करूँगा। उस पत्र को वह अपने से अलहदा नहीं करता है। और मैं देखता हूँ कि उस ब्रजनन्दन का ठाट-बाट आप ही आप कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था और ढोंग की बातें करता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यकता से अधिक बात नहीं करता। एक बार एक प्रदर्शनी में मिल गया। मैं तो देख कर हैरत में रह गया। ब्रजनन्दन एकाएक पहचाना भी न जाता था। मैंने कहा—"ब्रजनन्दन, कहो क्या हाल है।"

उसने प्रणाम करके कहा—"अच्छा है।"

वह मेरे घर पर भी आया। पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया। और बहुत-बहुत बधाइयाँ दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक-एक बात बिरजू की चाची

को मालूम हो गई है। वे बातें--ओह ! कुछ न पूछ बिरजू भैया ! मुँह से भगवान् किसी की बुराई न करावे। लेकिन..."

फिर कहा--"भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा ? सुनता है कि नहीं ?"

ब्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा---"और यह तुझे हो क्या गया है ? अपने चाचा की बात तुझे भी लग गई है क्या ? न ढङ्ग के कपड़े, न दीन की बातें ! उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोभते ही नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है, रे ?"

ब्रजनन्दन ने कहा, "कुछ नहीं चाची ! और कपड़े घर रक्खे हैं।"

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा--"ब्रजनन्दन, बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिये। और घर बसाना चाहिए। ठीक है कि नहीं ?"

ब्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े-बूढ़े की तरह कहा--"अभी तो बहुत उमर पड़ी है चाचा जी।"

मैंने उस बात को ज़्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मङ्गलवार को और आज बुधवार को भी सवेरे ही सवेरे छत पर नित-नित रोटी के मिस कौवों को पुकार कर बुलाने, खिलाने वाली यह जो लड़की देखता रहा हूँ, क्या वह जाह्नवी है ? जाह्नवी

को मैंने एक ही बार देखा है, इसलिए मन को कुछ निश्चय नहीं होता है। क़द इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में कुछ अधिक रहा होगा। पर यह वह नहीं है, जाह्नवी ही नहीं है, ऐसी दिलासा में मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सवेरे ही सवेरे इतने कौवे बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं। काले-काले वे ही वे दीखते हैं। और वे उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानो बड़े स्वाद से बड़े प्रेम से चोंथ-चोंथ कर उसे खाने के लिये आपस में बदा-बदी मचा रहे हों। पर उससे घिरी वह कहती है—"आओ कौवो, आओ।" जब वे आ जाते हैं तो गाती है।

"कागा चुन-चुन खाइयो......"

और काग जब इकट्ठे के इकट्ठे काँव काँव करते हुए चुन-चुन कर खाने लगते हैं और फिर भी खाँउं खाँउं करते उससे भी ज़्यादा माँगने लगते हैं तब वह चीख मचा कर चिल्लाती है—

"कि ओ रे कागा, नहीं, ये—

"दो नैना मत खाइयो,
मत खाइयो
पीव मिलन की आस।"